णमो अरिहंताणं
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्वसाहूणं

जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त

इकाई (संवर्ग)

इकाई – 1	-रत्नत्रय	(कुल पाठ-6)
इकाई – 2	-कर्म सिद्धान्त	(कुल पाठ-5)
इकाई – 3	-निमित्त उपादान एवं भाग्य-पुरुषार्थ	(कुल पाठ-5)
इकाई – 4	-जैनदर्शन में नय व्यवस्था	(कुल पाठ-5)
इकाई – 5	-अनेकांत एवं स्याद्वाद	(कुल पाठ-3)

-मंगल प्रेरणा-

पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (डी. लिट्.)

-लेखन एवं संकलन-

प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी (पीएच.डी.)

-निर्देशन-

कर्मयोगी पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

-संपादक-

प्रो. टीकम चन्द जैन, दिल्ली

डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर

संस्करण - **प्रथम संस्करण (फरवरी-2023)**

मूल्य- **100/-रुपये**

ISBN-978-93-84003-34-0

-प्रकाशक-

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय, मुरादाबाद

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

(सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन)

E-mail : jambudweeptirth@gmail.com, rk195057@yahoo.com

जैन दर्शन विभाग स्थापना की सम्प्रेरिका
गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी का
मंगल आशीर्वाद

मुझे इस बात की अंतरंग से अपार खुशी है कि सारे विश्व भर में 'तीर्थंकर महावीर' के नाम से एक मात्र प्रसिद्धि को प्राप्त विश्वविद्यालय मुरादाबाद में हमारे भक्त कुलाधिपति माननीय श्री सुरेशचंद जी के बहुमूल्य प्रयासों से निर्मित हुआ है। इस 'तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय' ने आज भारत के श्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में अपना स्थान प्राप्त किया है। यहाँ की उच्च शिक्षा तकनीकी तथा शिक्षा के उपरांत छात्र-छात्राओं को उज्ज्वल भविष्य का सुनहरा अवसर प्राप्त होना, यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

यूँ तो विश्वविद्यालय में सैकड़ों प्रकार की विधाओं के माध्यम से छात्र-छात्राओं को अपना भविष्य बनाने का अवसर प्राप्त होता है। तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में भी लगभग 150 से अधिक विषयों पर छात्र-छात्राएँ विभिन्न प्रकार की डिग्रीयाँ प्राप्त करते हैं और अपने जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयास करते हैं।

विशेषरूप से मैंने सन् 2012 में युनिवर्सिटी प्रवास के समय इस विश्वविद्यालय में ''जैन दर्शन विभाग'' की स्थापना करने की प्रेरणा प्रदान की, जिसमें जैनधर्म की शिक्षाओं में छात्र-छात्राएँ, स्नातक व स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त कर सकें। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद में जैन दर्शन विभाग की स्थापना हो चुकी है और यहाँ पर अब बी.ए.-जैनोलॉजी व एम.ए.-जैनोलॉजी कोर्स के साथ ही अन्य स्नातक करने वाले विद्यार्थियों के कोर्स में एक विषय जैनधर्म का भी सम्मिलित करने का उपक्रम किया गया है, जो सराहनीय है। यहाँ से जैनधर्म के संदर्भ में विभिन्न प्रकार के ऑनलाइन सर्टिफिकेट कोर्स भी संचालित किये जा रहे हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर एवं विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्त्वावधान में आज सम्पूर्ण भारतवर्ष के विभिन्न जैन श्रावक-श्राविकाओं व छात्र-छात्राओं द्वारा इस योजना का लाभ उठाकर घर बैठे ही जैनधर्म में विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त सर्टिफिकेट प्राप्त किये जा रहे हैं, यह एक विशेष सफलता एवं बड़े हर्ष का परिचायक है।

अतः मैं इस महत्वपूर्ण अवसर पर कुलाधिपति जी के साथ ही विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय, रजिस्ट्रार महोदय, जैन दर्शन विभागाध्यक्ष आदि समस्त विश्वविद्यालय परिवार को कोटिशः आशीर्वाद प्रेषित करती हूँ कि इसी प्रकार जैनधर्म की शिक्षा एवं तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों का विश्वविद्यालय द्वारा शिक्षा के रूप में प्रचार-प्रसार सतत् होता रहे और विश्वविद्यालय से जैनधर्म में स्नातक एवं स्नातकोत्तर डिग्री हासिल करने वाले छात्र-छात्राएँ भी अपने जीवन को तीर्थंकर महावीर स्वामी के सिद्धान्तों से सुसज्जित करके धर्म प्रभावना, समाज सुधार एवं व्यक्तित्व विकास के क्षेत्र में अपना जीवन समर्पित करें।

पुनः विश्वविद्यालय के जैन दर्शन विभाग हेतु मेरी बहुत-बहुत शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद है।

गणिनी ज्ञानमती

(गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी)

प्रस्तावना

-प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी
(लेखन एवं संकलनकर्त्री)

जैनधर्म प्राकृतिक, शाश्वत एवं अनादिनिधन धर्म है। इसे न किसी ने स्थापित किया है और न कोई कभी नष्ट कर सकता है। इसकी सार्वभौमिकता इस कथन से जानी जा सकती है-''कर्मारातीन् जयति इति जिनः, जिनो देवता यस्येति जैनः'' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन अथवा जिनेन्द्र भगवान कहलाये और उन जिनेन्द्र भगवान की उपासना करने वाले जैन कहलाते हैं।

इस अर्थ के अनुसार सभी प्राणी जैनधर्म के सर्वोदयी सिद्धान्तों को पालन करने के अधिकारी हो सकते हैं। यह धर्म किसी अन्य धर्म की शाखा न होकर पूर्णतया स्वतंत्र है। समय-समय पर इस धर्म का प्रचार-प्रसार तीर्थंकर भगवन्तों के माध्यम से होता रहा है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक चौबीस तीर्थंकर वर्तमान युग के धर्मतीर्थ प्रवर्तक माने गये हैं। इनमें से इस समय भगवान महावीर स्वामी का शासन काल चल रहा है।

तीर्थंकर महावीर की पश्चात्वर्ती परम्परा में अनेकानेक ज्ञानी आचार्य, मुनि, आर्यिका, विद्वान् आदि हुए हैं उन्होंने जैन विद्या तथा भारतीय संस्कृति के संवर्धन और आचार संहिता के संरक्षण में अपना योगदान प्रदान किया है।

भारतवर्ष में तीर्थंकर भगवान के नाम का प्रथम विश्वविद्यालय मुरादाबाद-उत्तरप्रदेश में है जिसका नाम है-तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय (TMU)। सन् 2005 में ''महावीर डेन्टल कॉलेज'' से प्रारंभ हुई यह शैक्षणिक संस्था आज विश्वविद्यालय के रूप में वटवृक्ष के समान विकसित होकर हजारों ज्ञानपिपासु स्नातकों को शीतल छाया प्रदान कर रही है। इस विश्वविद्यालय के कुलाधिपति श्री सुरेशचंद जी जैन ने अपनी दूरदर्शिता एवं कर्मठता का परिचय देते हुए इसे देश के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों की श्रेणी तक पहुँचा कर जैन समाज में एक कीर्तिमान स्थापित किया है।

सन् 2012 में जैन समाज की सर्वोच्च साध्वी पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी (अवध विश्वविद्यालय-फैजाबाद द्वारा सन् 1995 में डी.लिट्. की मानद उपाधि से अलंकृत) कुलाधिपति जी के विशेष निवेदन पर विश्वविद्यालय परिसर में 'भगवान महावीर जिनालय' की स्थापना में मंगल सान्निध्य प्रदान करने हेतु हस्तिनापुर से विहार करके मुरादाबाद पधारीं और वहाँ उनके 57वें आर्यिका दीक्षा दिवस (वैशाख कृ. दूज, 8 अप्रैल 2012) के अवसर पर विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित किये गये ''प्रथम विशेष दीक्षान्त समारोह'' में पूज्य श्री ज्ञानमती माताजी को डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की गई। उस समय पूज्य माताजी ने तीर्थंकर महावीर के नाम वाले इस विश्वविद्यालय में जैनॉलोजी विभाग खोलने की प्रेरणा प्रदान की, जिसे माननीय कुलाधिपति सहित समस्त प्रबंध समिति ने सहर्ष स्वीकार करके बी.ए. जैनोलॉजी एवं एम.एम. जैनोलॉजी कोर्स के रूप में स्थापित करके प्रारंभ करने की घोषणा की।

आगे इस निर्णय के संदर्भ में प्रगति करते हुए बी. ए. जैनोलॉजी का कोर्स इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि जिससे जैन व जैनेतर समस्त छात्र-छात्राओं को जैनधर्म का प्राथमिक स्तर से लेकर समग्र ज्ञान प्राप्त हो सके।

अतः इस त्रिवर्षीय बी. ए. के कोर्स में प्रत्येक वर्ष में जैनधर्म से संबंधित 2-2 विषय रखे गये हैं, जिनमें प्रथम वर्ष में 'जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास' तथा 'जैन तत्त्व विद्या', द्वितीय वर्ष में 'जैन आचार संहिता' एवं 'जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त' तथा तृतीय वर्ष में 'जैनागम में न्याय' एवं 'जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप' है। ऐसे बी. ए. में जैनधर्म के कुल 6 पेपर रखे गये हैं।

इसी प्रकार मैंने एम.ए. जैनोलॉजी के प्रथम व द्वितीय वर्षों की भी 4-4 किताबें तैयारी की हैं। इनमें प्रथम वर्ष में जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास, भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका, कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना तथा जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा किताबें शामिल है। पुनः द्वितीय वर्ष के लिए तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम), जिनागम दर्पण, अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय एवं जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण, ऐसी ये 8 किताबें अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उच्चस्तरीय ज्ञान से पूर्ण हैं।

परीक्षा बोर्ड के परामर्शानुसार इन सभी विषयों के कोर्स मैटेरियल सरलग्राह्य एवं विषय वस्तु के अनुरूप विस्तारित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

जैन संस्कृति भारतीय संस्कृति की मूल और सशक्त धारा है। जिसने सदा-सदा से भारत के आध्यात्मिक एवं शैक्षणिक गौरव को वृद्धिंगत किया है। जैनधर्म की साहित्यिक एवं पुरातात्विक विरासत विश्व के कोने-कोने में बिखरी हुई है, उन्हीं पर अनुसंधान करके वर्तमान वैज्ञानिकों ने कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट आदि के रूप में पुद्गल का चमत्कार भौतिक जगत को प्रदान किया है।

पुस्तकों के लेखन एवं संकलन में बहुत ही परिश्रमपूर्वक विषयों का चयन करके अनेक प्राचीन-अर्वाचीन सन्त और विद्वानों के विचार प्रस्तुत किये गये हैं, ताकि उनके संकलन का ज्ञानवर्धन में व्यापक उपयोग हो सके तथा स्नातक/स्नातकोत्तर परीक्षा देने वाले विद्यार्थी सरलतापूर्वक जैनदर्शन के विषयों को पढ़कर डिग्री आदि प्राप्त कर सकें।

परमपूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी की दूरदर्शितायुक्त प्रेरणा एवं कुलाधिपति जी के आग्रह पर मैंने इस स्नातकीय एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षा की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने की जिम्मेदारी ली और यथासंभव उसे निभाने का प्रयत्न किया है।

हमारे इस प्रयत्न में हर क्षण जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के पीठाधीश स्वस्तिश्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामीजी का कुशल निर्देशन प्राप्त हुआ है। इसके साथ ही संघस्थ समस्त आर्यिकावर्ग एवं ब्रह्मचारिणी बहनों का भी प्रूफ संशोधन आदि कार्यों में पूरा सहयोग मिला है।

पुस्तक में गर्भित विषयों के संकलन-संपादन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जैन जगत के विशिष्ट विद्वान् प्रो. टीकमचंद जैन (पूर्व अध्यक्ष-जैन अध्ययन केन्द्र, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय) ने अथक परिश्रम के साथ हमें सहयोग प्रदान किया है, उनके साथ डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर ने उपयोगी विषयों के निर्धारण एवं सम्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर कर्तव्य निर्वाह किया है।

गुरु आशीर्वाद एवं उनका हर क्षण प्राप्त निर्देशन ही इसकी सफलता का मूल कारण है।

विश्वविद्यालय में स्थापित जैन अध्ययन केन्द्र सर्वतोमुखी विकास करे, इसके द्वारा बी. ए., एम.ए. (जैनोलॉजी) की डिग्री प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राएँ भी जैनधर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों से जन-जन को लाभान्वित करें, यही मंगल भावना है। वर्तमान में यहाँ से जैनधर्म पर संचालित किये जा रहे है विभिन्न सर्टिफिकेट कोर्स एवं अन्य स्नातकीय शिक्षा कोर्स में भी जैनधर्म की उपरोक्त प्रारंभिक किताबों का उपयोग किया जा रहा है, जिसके लिए विश्वविद्यालय प्रबंधन के प्रति हमारी बहुत सारी शुभकामनाएँ एवं मंगल आशीर्वाद प्रेषित है।

कुलाधिपति की कलम से..........

तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी विभाग का शुभारंभ होना, इस विश्वविद्यालय के नाम की परिपूर्णता का सूचक है। मुझे अंतरंग से प्रसन्नता है कि हम जैन होने के नाते विश्वविद्यालय स्तर से जैनधर्म की शिक्षा के प्रचार-प्रसार का एक व्यापक कार्य कर रहे हैं। इस विभाग के माध्यम से छात्र-छात्राएँ जैनदर्शन में अध्ययन करके मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट प्राप्त कर सकेंगे और इसके साथ ही एम.फिल. तथा पीएच.डी. भी करके वे अपने उज्ज्वल भविष्य का प्रयास करेंगे, यह विश्वविद्यालय के लिए गौरवपूर्ण बात है।

विशेषरूप से इस जैन दर्शन विभाग की स्थापना में जैन समाज की वरिष्ठतम साध्वी परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा एवं आशीर्वाद महत्वपूर्ण निमित्त रहा। मुझे गौरव है कि हमारे विश्वविद्यालय का प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह पूज्य माताजी के सान्निध्य में ही हुआ, जिसमें विश्वविद्यालय ने पूज्य माताजी के बहुआयामी व्यक्तित्व एवं विशेषरूप से 400 से भी अधिक ग्रंथों के साहित्यिक योगदान को देखते हुए उन्हें विश्वविद्यालय की प्रथम डिग्री के रूप में ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि 8 अप्रैल 2012 को प्रदान की गई। इसके साथ ही पूज्य माताजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम ग्रंथ की सिद्धान्तचिंतामणि संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद करके इतने प्राचीन ग्रंथ को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जन-जन के लिए सुलभ बनाने का महान कार्य करने वाली प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चंदनामती माताजी को उनके द्वारा लिखित शताधिक ग्रंथों की विशेष सराहनापूर्वक उन्हें भी विश्वविद्यालय द्वारा प्रथम दीक्षांत समारोह में ''पीएच.डी.'' की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया।

यह प्रथम विशेष दीक्षांत समारोह सदैव ही विश्वविद्यालय के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने के योग्य रहेगा। इसी समय हमें पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी से इस विश्वविद्यालय में जैन दर्शन विभाग का शुभारंभ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी अतः अब यह प्रेरणा फलित हो रही है, जिससे निश्चित ही अनेकानेक छात्र-छात्राओं को न सिर्फ जैनधर्म का ज्ञान होगा अपितु विश्वविद्यालय की मान्य डिग्री, डिप्लोमा, सर्टिफिकेट से उनके भविष्य का भी सुन्दर निर्माण हो सकेगा, ऐसा पूर्ण विश्वास है।

विश्वविद्यालय द्वारा जैनदर्शन की शिक्षा प्रणाली को ऑनलाइन अथवा दूरस्थ शिक्षा के साथ प्रारंभ किया गया है अतः इसका स्टडी मैटेरियल सरल भाषा में तथा जैन दर्शन के समग्र ज्ञान को प्रदर्शित करते हुए बनाया गया है। इसे सभी छात्र-छात्राएँ सरलता के साथ पढ़कर परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करने का प्रयास करें, यही मेरी शुभकामनाएँ हैं।

सुरेश जैन
(कुलाधिपति)

सम्पादकीय.....

-डॉ. जीवन प्रकाश जैन, जम्बूद्वीप

यह एक अत्यन्त ही ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हुआ है, जिसमें छात्र-छात्राओं को जैनधर्म के अति विशिष्ट ज्ञान से परिचित होने का अवसर मिल रहा है। बी.ए. और एम.ए. जैनोलॉजी के आधार पर निम्न कुल 14 पुस्तकों का निर्माण अत्यन्त ही कठिन और श्रमसाध्य कार्य था, जिसे प्रज्ञाश्रमणी आर्यिकारत्न श्री चंदनामती माताजी ने अत्यन्त कुशलता के साथ अपने गहन ज्ञान अध्ययन और कुशाग्र विवेक के साथ सन् 2014 में सम्पन्न किया। यह कार्य विश्वप्रसिद्ध जैन तीर्थ दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर की समृद्ध लाइब्रेरी में उपलब्ध शताधिक ग्रंथों के आलोढ़न से अत्यन्त कम समय में सम्पन्न किया गया। इस लाइब्रेरी में लगभग 20 हजार से अधिक जैनधर्म की पुस्तकें उपलब्ध हैं, जिसमें अनेकों पाण्डुलिपियाँ भी संग्रहित हैं। ऐसी लाइब्रेरी के सदुपयोगपूर्वक इस कोर्स का निर्माण जैनधर्म के आगमोक्त ज्ञान के परिवेश में अत्यन्त ही प्रामाणिक है। इन पुस्तकों के माध्यम से धर्म के ज्ञान के साथ विश्वविद्यालयों द्वारा छात्र-छात्राएँ स्नातक और स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ भी हासिल कर सकते हैं।

इसी क्रम में तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय-मुरादाबाद को सर्वोच्च जैन साध्वी गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने सन् 2012 में प्रेरणा प्रदान की, जिसके आधार पर कुलाधिपति श्री सुरेश जी जैन ने अपने विश्वविद्यालय में जैनोलॉजी डिपार्टमेंट की स्थापना करके जैनधर्म के प्रति एक महान शैक्षणिक कार्य प्रारंभ किया है। वर्तमान में इस विश्वविद्यालय से निम्न पुस्तकों के आधार पर ही विभिन्न वार्षिक सर्टिफिकेट कोर्स का संचालन दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर के संयुक्त तत्त्वावधान में अनेकों वर्ष से चल रहा है। इसी क्रम में वर्तमान सन् 2026 से विश्वविद्यालय के द्वारा स्नातक की शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के लिए एक विषय जैनधर्म का भी इन पुस्तकों के आधार पर पढ़ाया जाना निर्धारित किया गया है, जो जैनधर्म के प्रति विश्वविद्यालय की एक अनुकरणीय पहल है।

ऐसे कोर्स का अध्ययन करके जहाँ विश्वविद्यालय जैनधर्म और संस्कृति के प्रति अपने कुछ कर्तव्य निभा सकेगा, वहीं पढ़ने वाले विद्यार्थीगण भी जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और उसके सिद्धान्तों के संरक्षण, संवर्धन एवं विकास में अपनी महती भूमिकाएँ अदा करेंगे, ऐसी आशाओं के साथ इस शिक्षा क्षेत्र से जुड़ने वाले सभी महानुभावों एवं छात्र-छात्राओं के प्रति उज्ज्वल भविष्य की मंगल कामनाएँ हैं।

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान एवं तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित स्नातक एवं स्नातकोत्तरीय शिक्षण हेतु जैनधर्म की विभिन्न विषयक पुस्तकें

-स्नातक हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास

(2) जैन तत्त्व विद्या

द्वितीय वर्ष-

(1) जैन आचार संहिता

(2) जैनधर्म के मौलिक सिद्धान्त

तृतीय वर्ष-

(1) जैनागम में न्याय

(2) जैनधर्म का वैज्ञानिक स्वरूप

-स्नातकोत्तर हेतु-

प्रथम वर्ष-

(1) जैनधर्म और संस्कृति का इतिहास

(2) भारतीय संस्कृति के उन्नयन में जैन आचरण की भूमिका

(3) कर्म सिद्धान्त एवं ध्यान साधना

(4) जैनधर्म एवं न्यायमीमांसा

द्वितीय वर्ष-

(1) तीर्थंकर महावीर दिव्यध्वनि सार (चार अनुयोगों में निबद्ध जिनागम)

(2) जिनागम दर्पण

(3) अहिंसा, अनेकांत एवं जैनदर्शन के कतिपय प्रमुख विषय

(4) जैनदर्शन के संदर्भ में विभिन्न दृष्टिकोण

विषयानुक्रमणिका

पाठ	पृष्ठ संख्या
इकाई 1 — रत्नत्रय	**1–23**
पाठ–1 मोक्षमार्ग एवं सम्यग्दर्शन का स्वरूप	1–4
पाठ–2 सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप	5–7
पाठ–3 सम्यग्दर्शन के भेद	8–9
पाठ–4 सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष एवं आठ अंग	10–12
पाठ–5 सम्यग्ज्ञान	13–15
पाठ–6 सम्यक्चारित्र	16–23
इकाई 2 — कर्म सिद्धान्त	**24–52**
पाठ–1 कर्म का स्वरूप एवं कर्मबंध की प्रक्रिया	24–27
पाठ–2 कर्म के भेद–प्रभेद एवं प्रत्येक कर्मबंध के कारण	28–38
पाठ–3 कर्म की विविध अवस्थाएँ	39–42
पाठ–4 कर्म की फलदान प्रक्रिया और ईश्वर	43–47
पाठ–5 कर्म मुक्ति के उपाय	48–52
इकाई 3 — निमित्त उपादान एवं भाग्य-पुरुषार्थ	**53–74**
पाठ–1 कार्य कारण सिद्धान्त	53–59
पाठ–2 मोक्ष और संसार के कारण	60–62
पाठ–3 निमित्त की बलवत्ता	63–65
पाठ–4 भाग्य (दैव) और पुरुषार्थ	66–71
पाठ–5 पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता	72–74
इकाई 4 — जैनदर्शन में नय व्यवस्था	**75–105**
पाठ–1 जैनदर्शन में नय व्यवस्था व नय के भेद	75–79
पाठ–2 शुद्ध–अशुद्ध निश्चयनय	80–83
पाठ–3 अध्यात्म भाषा में नय व्यवस्था	84–85
पाठ–4 कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?	86–93
पाठ–5 ग्रंथों के अध्ययन–अध्यापन की शैली	94–105
इकाई 5 — अनेकांत एवं स्याद्वाद	**106–118**
पाठ–1 अनेकांत	106–110
पाठ–2 स्याद्वाद	111–115
पाठ–3 सप्तभंगी	116–118

इकाई—1 रत्नत्रय

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) मोक्षमार्ग एवं सम्यग्दर्शन का स्वरूप

(2) सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप

(3) सम्यग्दर्शन के भेद

(4) सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष एवं आठ अंग

(5) सम्यग्ज्ञान

(6) सम्यक्चारित्र

पाठ-1—मोक्षमार्ग एवं सम्यग्दर्शन का स्वरूप

1.1 मोक्षमार्ग—

जैन दर्शनकार श्रद्धा ज्ञान और आचरण की समष्टि को ही मोक्ष-मार्ग बताते हैं।

"सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः।"

यह जैन दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है, अर्थात् सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की संयुति ही मोक्ष का मार्ग है। सम्यक् शब्द समीचीनता का द्योतक है। यह तीनों में अनुगत है। यहाँ दर्शन का अर्थ श्रद्धा है, तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा को सम्यक् दर्शन कहते हैं। वास्तविक बोध सम्यक् ज्ञान है तथा आत्म-कल्याण के लिए किया जाने वाला सदाचरण सम्यक् चारित्र है।

सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों के योग से ही मोक्ष मार्ग बनता है। लोक में रत्नों की तरह दुर्लभ होने के कारण इन्हें रत्नत्रय भी कहते हैं, ये तीनों मिलकर ही मोक्षमार्ग कहलाते हैं।

मार्ग और मार्ग का फल ये दो प्रकार ही जिनशासन में कहे गए हैं। मोक्ष के उपाय का नाम मार्ग है और निर्वाण उसका फल है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इनकी एकता ही मोक्ष का उपाय है। अपने-अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है वह सम्यग्दर्शन है। जिस-जिस प्रकार से जीवादि पदार्थ व्यवस्थित हैं उस-उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। जो ज्ञानी पुरुष संसार के कारणों को दूर करने के लिए उद्यत है उसके कर्मों के ग्रहण करने में निमित्तभूत क्रिया के त्याग को सम्यक्चारित्र कहते हैं। इन तीनों की पूर्णता से होने वाला जो फल है उसी का नाम निर्वाण है जो कि अक्षय, अनंत, अतीन्द्रिय, ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यस्वरूप है। इस निर्वाण के विषय में प्रायः किसी को विसंवाद नहीं है क्योंकि सभी लोग सामान्य से सर्व दुःखों से छूट जाने को ही निर्वाण या मोक्ष कहते हैं।

चारित्र जीवन की सबसे बड़ी निधि है। आचार को धर्म कहा गया है। धर्म का क्रियात्मक रूप आचार है। पर आचार को एक निश्चित विचार से अभिप्रेरित होना चाहिए। विचार रहित आचार और आचार रहित विचार हमें वांछित परिणाम नहीं दे सकता। आचार और विचार की इसी अन्योन्याश्रितता के कारण ही जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता को धर्म कहा गया है।

1.2 सम्यक्त्व का स्वरूप—

विभिन्न दृष्टियों से सम्यग्दर्शन के विभिन्न लक्षण बताये गए हैं। यथा—

1. परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु पर तीन मूढ़ता और आठ मदों से रहित तथा आठ अंगों से युक्त होकर श्रद्धा करना।

2. तत्त्वों पर श्रद्धा करना।

3. स्व–पर का श्रद्धान करना।

4. आत्मा का श्रद्धान करना।

इन लक्षणों में तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप लक्षण सभी में दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि जीव की शुद्ध अवस्था ही देव है। सच्चे गुरु तो साक्षात् संवर–निर्जरा की प्रतिमूर्ति हैं। शास्त्र रत्नत्रय रूप सच्चे धर्म का अधिष्ठान है। सच्चा धर्म अजीव, आस्रव और बन्ध इन तत्त्वों से हटकर संवर और निर्जरा तत्त्वों की ओर झुकने का नाम है। इसका फल मोक्ष है। अतः सच्चे देव, शास्त्र व गुरु की श्रद्धा व सात तत्त्वों की श्रद्धा एक ही बात है।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं, इनमें जीव स्वतत्त्व है। अजीव, आस्रव और बन्ध 'पर' हैं। संवर और निर्जरा स्व के साधन हैं। मोक्ष जीव का स्वाभाविक रूप है। अतः स्व–पर का श्रद्धान रूप लक्षण भी इस सात तत्त्व वाले लक्षण में समाहित हो जाता है। आत्मश्रद्धान रूप लक्षण का अर्थ है–आत्मा के समस्त अजीव, आस्रव, बन्ध आदि वैभाविक भावों से रहित अवस्था का श्रद्धान करना। उसमें भी सात तत्त्वों वाला लक्षण गर्भित हो जाता है।

1.3 सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण—

जिसके होने पर कार्य हो जावे अथवा नहीं भी होवे किन्तु जिसके बिना नहीं होवे वह कारण है। जैसे—मुनिमुद्रा के होने पर मोक्ष होवे अथवा नहीं भी होवे किन्तु उसके बिना नहीं हो सकता है।

तथा जिसके होने पर नियम से कार्य हो जावे वह कारण, कारण न कहलाकर 'करण' कहलाता है और वह साधकतम माना जाता है जैसे कि अधःकरण आदि तीन करणरूप करणलब्धि के होने पर नियम से सम्यक्त्वरूप कार्य प्रकट हो जाता है।

कुछ लोग कारणों को अत्यंत हेय अथवा उपेक्षा बुद्धि से देखते हैं। वे इन्हें कार्य की उत्पत्ति में नगण्य अथवा अकिंचित्कर मानते हैं किन्तु ऐसी बात नहीं है। आगम में तो कारणों के बिना 'करणलब्धि' का होना ही असंभव बतलाया है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। विरले जीवों को ही इसकी उपलब्धि होती है। उसके लिये कतिपय योग्यताओं की आवश्यकता होती है। भव्य, संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तक, विशुद्धतर लेश्यावाला जागृत जीव ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है।

1.4 सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये आवश्यक पंच लब्धियाँ—

1. क्षयोपशमलब्धि, 2. विशुद्धिलब्धि, 3. देशनालब्धि, 4. प्रायोग्यलब्धि, 5. करणलब्धि।

1. क्षयोपशमलब्धि—तत्त्व–विचार की शक्ति की उपलब्धि क्षयोपशमलब्धि है। कर्मों के क्षयोपशम से जीवों को यह कदाचित् प्राप्त होती है। जीव का भव्य होने के साथ संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्तक होना इसी लब्धि का कार्य है। इस अवस्था में अशुभ कर्मों की अनुभाग शक्ति (फलदान शक्ति) को प्रति समय अनन्तगुणा हीन करते हुए उदीरणा के योग्य (भोगने योग्य) बना लिया जाता है।

2. विशुद्धिलब्धि—परिणामों में प्रति समय विशुद्धि की वृद्धि को विशुद्धिलब्धि कहते हैं। यह लब्धि पुण्य कर्मों के बंधन में कारणभूत परिणामों की प्राप्ति–स्वरूप है। यह कषायों की मन्दताजन्य पुरुषार्थ का प्रतिफलन है।

3. देशनालब्धि—सम्यक् उपदेश का श्रवण और मनन देशनालब्धि है। तत्त्वोपदेष्टा निर्ग्रन्थ आचार्य–मुनियों का समागम और शास्त्र का अभ्यास इसी के अन्तर्गत आता है।

4. प्रायोग्यलब्धि— परिणामों की विशुद्धि–वश सत्तागत (संचित) कर्मों की स्थिति घटकर अन्तःकोड़ा–कोड़ी सागर मात्र रह जाना और अशुभ कर्मों का अनुभाग–बंध द्विस्थानीय होना प्रायोग्यलब्धि है। तात्पर्य यह है कि इस लब्धि को प्राप्त जीव प्रतिसमय बँधने वाली अशुभकर्म प्रकृतियों की शक्ति को क्षीण करता जाता है। साथ ही पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति अर्थात् फलदान काल की अवधि को भी घटा लेता है।

ये चारों ही लब्धियाँ भव्य और अभव्य दोनों प्रकार के जीवों को समान रूप से प्राप्त हो सकती हैं। करणलब्धि भव्य जीवों को ही होती है। इस लब्धि में प्रविष्ट साधक निश्चयतः सम्यक्त्व उपलब्ध कर लेता है। इन पाँच लब्धियों से प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

5. करणलब्धि— परिणामों की उत्तरोत्तर विशुद्धि को करणलब्धि कहते हैं। पूर्वोक्त चार लब्धियों के द्वारा विशुद्धि को प्राप्त जीव एक अवस्था में आकर प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिवाला हो जाता है। उत्तरोत्तर बढ़ने वाली यह विशुद्धि ही करणलब्धि है। करणलब्धि तीन प्रकार की होती है—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण।

(क) अधःकरण— अधः करण में परिणामों की विशुद्धि प्रतिसमय अनन्तगुणी होती जाती है। बढ़ती हुई इस विशुद्धि के परिणामस्वरूप उस समय बँधने वाली अशुभकर्म–प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणाहीन और शुभकर्म प्रकृतियों का अनुभाग अनन्त गुणा अधिक बँधता है। कर्मों की स्थिति भी प्रतिसमय पल्योपम के असंख्यातवें भाग हीन–हीन बँधती है।

(ख) अपूर्वकरण— इस करण में प्रतिसमय पूर्व में अनुभूत अपूर्व–अपूर्व परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस करण में आत्मा का अपूर्व वीर्योल्लास जागता है। बढ़ती हुई विशुद्धि के बल पर साधक मोहग्रंथि का भेदन प्रारंभ कर देता है। अपूर्वकरण में प्रवेश करते ही साधक प्रथम समय में ही स्थिति घात, अनुभागघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण ऐसी चार क्रियाओं को प्रारंभ कर देता है। ये क्रियाएँ मोहग्रंथि के भेद होने तक अन्तर्मुहूर्त तक निरंतर चलती रहती हैं।

स्थिति घात—स्थिति का अर्थ है—बद्ध कर्मों का आत्म प्रदेशों के साथ जुड़े रहने की कालावधि। स्थिति समूह का घात स्थितिघात कहलाता है। यह एक अन्तर्मुहूर्त में निष्पन्न होता है। अपूर्वकरण में ऐसे अनेक स्थितिघात होते हैं।

अनुभागघात—अशुभ कर्मों की फलदान शक्ति को अनन्तगुणी हीन–हीन करते जाना अनुभागघात कहलाता है। इसमें सत्तागत अशुभकर्मों के अनुभाग स्पर्धकों (फलदान शक्तियुक्त परमाणु समूह) को अनन्त भाग कर उसमें से एक अनन्तवें भाग को छोड़कर शेष सर्व परमाणुओं का अन्तर्मुहूर्त में घात कर दिया जाता है। प्रत्येक अनुभागघात में एक अन्तर्मुहूर्त लगता है। अपूर्व करण में ऐसे अनेक अनुभाग घात होते हैं।

गुणश्रेणी—उदयक्षण से लेकर प्रति समय असंख्यातगुणे कर्म निषेकों की रचना को गुणश्रेणी कहते हैं। अपूर्वकरण में साधक अपनी आत्मशुद्धि वश प्रतिसमय गुणश्रेणीरूप असंख्यातगुणी निर्जरा करता है।

गुणसंक्रमण—गुणसंक्रमण संक्रमण का एक भेद है। इसमें प्रतिसमय असंख्यातगुणित क्रम से अबद्धमान अशुभकर्म प्रकृतियों के कर्म निषेकों का उस समय बँधने वाली सजातीय प्रकृतियों में संक्रमण/परिवर्तन होता है।

(ग) अनिवृत्तिकरण—जिस करण में प्रति समय एक समान परिणाम हो उसे अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस करण में समयवर्ती जीवों के परिणाम समान ही होते हैं। यहाँ एक समय में जीव के एक ही परिणाम होता है। इसलिये उस समय में जितने जीव होंगे, सभी के परिणाम समान ही होंगे। अनिवृत्तिकरण का काल भी अंतर्मुहूर्त ही है, पर अपूर्वकरण के काल से संख्यात गुणा हीन है।

अनिवृत्तिकरण में अपूर्वकरण की समस्त क्रियाएँ होती हैं। इसका बहुभाग बीतने पर अन्तरकरण होता है।

अन्तरकरण—परिणामों में विशुद्धि के कारण सत्ता स्थित कुछ कर्म प्रदेशों में से कुछ निषेकों का अपना स्थान छोड़कर उत्कर्षण–अपकर्षण द्वारा ऊपर नीचे के निषेकों में मिल जाना अन्तरकरण है। इस अन्तरकरण द्वारा निषेकों की

एक अटूट पंक्ति टूटकर दो भागों में विभाजित हो जाती है। एक पूर्व–स्थिति दूसरी अपरितन–स्थिति। बीच में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निषेकों का अन्तर पड़ जाता है। यही अन्तरकरण है।

अन्तरकरण की समाप्ति के बाद अनिवृत्तिकरण के अंतिम समय में मिथ्यात्व कर्म के मिथ्यात्व, सम्यक्–मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप तीन टुकड़े हो जाते हैं। तभी उस साधक के प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उपलब्धि होती है।

1.5 सम्यग्दर्शन के प्रकार—

सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है–निसर्गज और अधिगमज।

निसर्गज सम्यग्दर्शन—परोपदेश के बिना उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन निसर्गज सम्यग्दर्शन है।

अधिगमज सम्यग्दर्शन—परोपदेश पूर्वक उत्पन्न होने वाला सम्यग्दर्शन अधिगमज सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के उक्त दो भेद सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाह्य निमित्तों की अपेक्षा से किये गये हैं। इनके अतिरिक्त आगम में जो सम्यग्दर्शन के निम्न छह बाह्य हेतु बताए गये हैं, वे भी इन दोनों में अंतर्भूत हो जाते हैं।

1. **जातिस्मरण**—अतीत के जन्मों की स्मृति।
2. **धर्मश्रवण**—धर्मोपदेश का श्रवण और मनन।
3. **जिनबिम्ब दर्शन**—जिनेन्द्र प्रतिमा एवं वीतरागी मुनियों का दर्शन।
4. **वेदनानुभव**—तीव्र वेदनाजन्य पीड़ा का अनुभव। यह मात्र नारकी जीवों को होता है।
5. **देवर्द्धिदर्शन**—अपने से अधिक ऋद्धि और वैभवशाली देवों का दर्शन।
6. **जिनमहिमादर्शन**—तीर्थंकरों के पंचकल्याणक आदि महामहोत्सवों का दर्शन।

इनमें मनुष्यों और तिर्यञ्चों के लिए जातिस्मरण, धर्मश्रवण और जिनबिम्बदर्शन ये तीन सम्यक्त्वोत्पत्ति के हेतु हैं। देवों को जातिस्मरण, धर्मश्रवण, देवर्द्धिदर्शन और जिनमहिमा दर्शन रूप चार कारणों से सम्यग्दर्शन होता है। उनमें भी देवर्द्धिदर्शन बारहवें स्वर्ग तक के देवों में और जिनमहिमा दर्शन सोलहवें स्वर्ग तक के देवों में ही सम्यग्दर्शन का हेतु है, क्योंकि शुक्ल लेश्या वाले होने के कारण बारहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों में एक–दूसरे की ऋद्धि के दर्शन से कोई फर्क नहीं पड़ता तथा सोलहवें स्वर्ग से ऊपर के देवों का मर्त्यलोक में आगमन नहीं होता इस कारण से वहाँ जिनमहिमा दर्शन सम्यग्दर्शन का हेतु नहीं है। नवमें ग्रैवेयक से ऊपर के देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। नरक गति में तीसरे नरक तक जातिस्मरण, धर्मश्रवण और वेदनानुभव ये तीन हेतु हैं। तीसरे नरक से नीचे देवों का गमन नहीं होने से वहाँ धर्मश्रवण नहीं होता।

उपरोक्त छहों हेतुओं में धर्मश्रवण के अतिरिक्त शेष सभी निसर्गज सम्यग्दर्शन में अन्तर्भूत हैं तथा धर्मश्रवण अधिगमज सम्यग्दर्शन में समाहित हो जाता है।

1.6 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1–मोक्ष का मार्ग क्या है ?

प्रश्न 2–सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 3–पंचलब्धियों के नाम बताइये ?

प्रश्न 4–उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के कौन–कौन से भेद है ?

पाठ-2—सच्चे देव, शास्त्र, गुरु का स्वरूप

2.1 सच्चे देव का स्वरूप—

सच्चे देव—सच्चे देव की तीन विशेषताएँ हैं—सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता। अत: जिनके अंदर-बाहर, राग-द्वेष और मोह का लेशांश भी न होवे ही हमारे देव हैं। वीतरागी होने से अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और अलंकरण से रहित परम शांत मुद्रा ही सच्चे देव का स्वरूप है। राग-द्वेष-मोह का समूलोच्छेद हो जाने के कारण उनके अज्ञान का सर्वनाश हो जाता है। वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाते हैं। सर्वज्ञ और वीतरागी होने के कारण वे जो उपदेश देते है। वे सबके कल्याण के लिए होता है। उनका उपदेश किसी वर्ग विशेष के लिए न होकर समस्त प्राणीमात्र के लिए होता है। इसलिए उन्हें परम हितोपदेशी कहते हैं। इस प्रकार वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ही सच्चे देव का स्वरूप है। ये ही तीर्थंकर अरहन्त और परमात्मा कहलाते हैं।

2.2 सच्चे शास्त्र का स्वरूप—

आज लोक में अनेक प्रकार के शास्त्र प्रचलित हैं। अलग-अलग विषयों के अलग-अलग साहित्य भण्डार लगे हैं। अब प्रश्न उठता है इस विपुल भण्डार में कौन से शास्त्र हैं जो हमारे हित के कारण हैं तथा जिन्हें सत्यशास्त्र कहा जा सके ? सत्य को उपलब्ध व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र हो सकते हैं। राग-द्वेष और मोह से ग्रसित प्राणी ही असत्य वाणी का प्रयोग करता है। असत्यवाणी हमारे लिए हितकर नहीं है। अत: राग-द्वेष से रहित व्यक्ति द्वारा रचित शास्त्र ही सत् शास्त्र की कोटि में आते हैं। इसलिए सम्यक्दृष्टि आप्तवीतरागी पुरुषों द्वारा रचित शास्त्र को ही सत् शास्त्र मानता है। कहा भी गया है। ''वक्तु: प्रामाण्यात् वचन प्रामाण्यम्'' अर्थात् वक्ता की प्रामाणिकता से वचनों में प्रामाणिकता आती है। क्या बोला जा रहा है ? यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है कि जितना कि कौन बोल रहा है ? यदि वक्ता अप्रामाणिक है तो वह मिश्री में जहर की तरह अपनी मीठी वाणी के द्वारा अहितकर उपदेश भी दे सकता है। वक्ता के प्रमाणिक होने पर किसी प्रकार का अविश्वास नहीं रहता। इसे निम्न उदारहरण से समझा जा सकता है-

मान लीजिए आप ऐसे जंगल में फंस गये, जहाँ कोई मार्ग नहीं सूझता हो। सोचकर निकले किसी गांव तक पहुँचने का, पर बीच में ही भटक गये। अनेकों पगडंडियाँ फूटी हैं। असमंजस की स्थिति में खड़े हैं कि किधर चलें ? तभी देखते हैं, कि सामने से घुटनों तक मैली-कुचैली धोती पहने अर्द्धनग्नबदन, बिखरे बालों वाला काला-कलूटा भीमकाय व्यक्ति चला आ रहा है। देखते ही मन भयाक्रान्त हो उठता है। फिर भी जैसे-तैसे साहस बटोरकर उससे पूछा भी, तो उसने ऐसा कर्कश उत्तर दिया मानो खाने को ही दौड़ता हो। 'रास्ता भूल गया है.....मार्ग नहीं जानता था तो क्यों आया यहाँ पर...? तेरे बाप का नौकर हूँ क्या ?.......चले जा अपनी दायीं ओर......।' आप ही बतायें, उसके बताये मार्ग पर आपके कदम कभी भी बढ़ेंगे। आप रात्रि वहीं बिताने को तैयार हो सकते हैं। मगर उस व्यक्ति के द्वारा इंगित दिशा पर एक कदम भी चलने का साहस नहीं कर सकेंगे।

अब आप निराश खड़े हैं। तभी देखते ही कि सामने से भव्य आकृति वाला मनुष्य चला आ रहा है। धोती-दुपट्टा पहने, हाथ में कमंडल लिए, माथे पर चंदन का तिलक लगाए, मुख से प्रभु के गीत गुनगुनाता, वह दूर से ही कोई भद्र पुरुष प्रतीत हो रहा है। पास आने पर आपने उन्हें नमस्कार किया, प्रत्युत्तर में उसने भी नमस्कार किया। आपके द्वारा मार्ग पूछने पर उन्होंने कहा, 'बड़े भाग्यवान हो पथिक, जो अब तक सुरक्षित बचे हो। यह वन ही ऐसा है। यहाँ अनेकों प्राणी प्रतिदिन भटक जाते हैं। खैर, घबराने की कोई बात नहीं अभी दिन ढलने में समय शेष है। तुम्हारा गांव भी ज्यादा दूर नहीं है। दांयी ओर जाने वाली इस पगडंडी से निकल जाओ। करीब एक मील आगे जाने पर एक नाला पड़ेगा, उसे पार करके

उसके दांयी ओर मुड़ जाना करीब आधा मील और चलोगे तो तुम्हें खेत दिखाई पड़ने लगेंगे। उन खेतों के बगल से बायीं ओर एक पगडंडी जाती है, उसे पकड़कर तुम सीधे चले जाना, करीब एक मील चलने पर तुम अपने गांव पहुँच जाओगे।'

कल्पना कीजिए क्या इस व्यक्ति की बात पर आपको विश्वास नहीं होगा ? सहज ही आप उसकी बात का विश्वास कर लेंगे तथा उसे धन्यवाद ज्ञापित करते हुए आपके कदम अनायास उस दिशा में बढ़ जायेंगे। देवि! कही तो दोनों ने एक ही बात थी। पर पहले व्यक्ति के अप्रमाणिक होने से उसके वचनों पर विश्वास नहीं हुआ तथा दूसरे की प्रमाणिकता ने सहज ही उस पर विश्वास उत्पन्न करा दिया। इसलिए कहा गया है कि वक्ता की प्रमाणिकता से वचनों में प्रमाणिकता आती है।

सत्य शास्त्र आप्त प्रणीत होने के साथ-साथ उसमें कुछ और भी विशेषताएँ होती हैं। यथा वह पूर्वापर विरोध से रहित हो। दूसरों की युक्तियों एवं तर्कों से उसके मूलभूत सिद्धान्त अखण्डनीय हो। प्राणी-मात्र का हितकारी हो। प्रयोजन- भूत बातों का कथन हो तथा वह उन्मार्ग का नाश करने वाला हो। तभी वह सत्यशास्त्र की कोटि में आ सकता है। इसके विपरीत एकान्त मतावलम्बी रागीद्वेषी व्यक्तियों द्वारा लिखे जाने वाले शास्त्र कुशास्त्र की कोटि में आते हैं।

2.3 सच्चे गुरु का स्वरूप—

गुरु का मोक्षमार्ग में महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये हमारे मार्गदर्शक हैं। देव आज है नहीं और शास्त्र मौन हैं। ऐसी स्थिति में गुरु ही हमारे सहायी होते हैं। गुरु के अभाव में हम शास्त्र के रहस्यों को भी नहीं समझ सकते। जैसे समुद्र का जल खारा होता है हम उसमें नहा भी नहीं पाते और न ही उससे हमारी प्यास बुझती है। लेकिन वही जल सूर्य के प्रताप से वाष्पीकृत होकर बादल बनकर बरसता है तो वह मीठा और तृप्तिकर बन जाता है। हम आनंद के साथ उस जल में अवगाहित होते हैं। वैसे ही शास्त्र भी अगम समुद्र की तरह है। हम अपने क्षुद्र ज्ञान के बल से उसमें अवगाहित नहीं हो पाते। गुरु अपने अनुभव के प्रताप से उसे अवशोषित कर बादल की तरह जब हम पर बरसाते हैं तब महान तृप्ति और आल्हाद उत्पन्न होता है तथा हम सहज ही शास्त्रों के मर्म को समझ जाते हैं। जो प्रेरणा हमें गुरुओं की कृपा से मिलती है, वह शास्त्र और देव से नहीं, क्योंकि गुरु तो जीवित देव होते हैं। शास्त्र और देवप्रतिमा तो अचेतन है।

मान लें आपको किसी अपरिचित रास्ते से गुजरना पड़े, तो आप एकदम साहस नहीं जुटा पाते। भय लगता है। पता नहीं आगे यह रास्ता कैसा है ? कितनी दुर्गम घाटियाँ हैं ? कितने नदी-नाले हैं ? कितने मोड़ हैं ? कहीं जंगली जानवरों का आतंक तो नहीं ? ऐसी अनेक आशंकाओं से मन भयाक्रांत हो उठता है। रास्ते का पता लगने के बाद भी पांव आगे नहीं बढ़ पाते। संयोगतः वहीं कोई आपका चिर-परिचित मित्र मिल जाये और वह आपसे कहे-अरे! यह रास्ता तो बहुत अच्छा है। मैं तो रोज ही यहाँ से आया-जाया करता हूँ। इसके चप्पे-चप्पे से मैं परिचित हूँ। यहाँ कोई कठिनाई नहीं, सड़क अच्छी है। रास्ते में पड़ने वाले गांव के लोग सभ्य और सरल हैं। आओ मेरे साथ मुझे भी इधर ही जाना है, मैं तुम्हें तुम्हारे घर पहुँचा देता हूँ। उसकी बात सुनते ही हमारे मन का भय भाग जाता है तथा हमारे कदम सहज ही उस ओर बढ़ जाते हैं।

यही स्थिति गुरु की है। शास्त्र के माध्यम से हम सही मार्ग जान तो लेते हैं लेकिन अवरोधों के भय से उस पर चल पाने का साहस नहीं जुटा पाते। गुरु कहते हैं कि मार्ग तो बहुत सरल है। मुझे देखो.....मैं भी तो चल रहा हूँ। आओ मेरे साथ। उन्हें देखकर सहज ही आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलने लगती है।

लोक में गुरु भी अनेक प्रकार के पाये जाते हैं। अनेक धर्म हैं और अनेकों धर्मगुरु। इनमें सच्चा गुरु किनको समझा जाए ? यह बड़ा ही जटिल प्रश्न है। लौकिक क्षेत्र में तो माता-पिता, अध्यापक आदि गुरु माने जा सकते हैं, किन्तु पारमार्थिक क्षेत्र में किन्हें गुरु माना जाए, हमें यह देखना है।

सच तो सच्चे गुरु की महिमा, अज्ञानी समझ न पाते हैं।
ज्ञानी उनको ब्रह्मा एवं, विष्णू महेश बतलाते हैं।।
भगवान तो ऊपर रहते हैं, गुरु उनका पथ दरशाते हैं।
गुरु के पथ पर चलने वाले, इक दिन खुद गुरु बन जाते हैं।।

2.4 सच्चे गुरु का स्वरूप बताते हुए आचार्य श्री समन्त भद्र ने कहा है—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोपरिग्रहः।
ज्ञान ध्यान तपोरक्तः तपस्वी स प्रशस्ते।।

अर्थात् विषय कषायों से रहित, आरंभ परिग्रहों से परिमुक्त होकर ज्ञान, ध्यान और तप में लवलीन साधु ही सच्चे गुरु हैं।

विषयासक्ति रहितता—यह सच्चे गुरु की पहली विशेषता है। विषयाभिलाषा रागद्वेष व आकुलता की जननी है और पापों में प्रवृत्ति कराने वाली है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों के आधीन व्यक्ति कभी भी सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकता। आत्मकल्याण के पथ पर चलने वाले सच्चे गुरु पंचेन्द्रिय विजयी होते हैं। वे पाँचों इन्द्रियों के किसी एक विषय पर भी आसक्त नहीं होते। विषयासक्ति तो साधुत्व पर कलंक है, अतः सच्चे गुरु को पंचेन्द्रिय विजयी होना चाहिए।

आरंभ रहितता-आरंभ का मतलब है नौकरी, व्यापार, उद्यम, सेवा, खेती आदि कार्य जो प्राणियों को दुःख पहुँचाने वाली प्रवृत्तियाँ हैं। ये कार्य साधारण प्राणियों में भी पाये जाते हैं। मनुष्य इन्हीं के गोरख-धंधे में फंसकर दुःखी हैं। अतः गुरु, जिन्हें हम अपना आदर्श बना रहे हैं, उन्हें इनसे दूर रहना चाहिए।

परिग्रह रहितता-यह सच्चे गुरु की तीसरी विशेषता है। ममत्व भाव को परिग्रह कहते हैं। जिनके पास थोड़ा भी बाह्य या भीतरी पदार्थों के प्रति ममत्व हो, वे सच्चे गुरु नहीं कहला सकते क्योंकि ममत्व तो समस्त विकारों का मूल है। पापों में परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, इसके होने पर अन्य पापों में प्रवृत्ति अवश्यंभावी होती है। परिग्रह आकुलता का कारण तथा समता व वीतरागता का विनाशक है। इसलिए सच्चे साधु अपने आप कुछ भी परिग्रह नहीं रखते। यहाँ तक कि वे अपने शरीर पर वस्त्र का एक छोटा-सा टुकड़ा भी नहीं रखते।

सतत ज्ञानार्जन शीलता-सतत ज्ञानाभ्यास सच्चे गुरु की चौथी विशेषता है। विषय कषायों से दूर होकर जब साधुगण अपने आत्म ध्यान से बाहर आते हैं तो सांसारिक प्रपंचों से दूर हट धर्मशास्त्रों में अपने चित्त को रमाये रखते हैं। यही उनकी सतत ज्ञानार्जनशीलता है। ज्ञानाभ्यास से चित्त में निर्मलता, समता व वीतरागता की सिद्धि व वृद्धि होती रहती है।

प्रगाढ़ ध्यानलीनता और तपस्विता-सच्चे गुरु सदा अपनी आत्मा के ध्यान में लीन रहते हैं। वह अपनी साधना की अभिवृद्धि के लिए शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार का तप करते रहते हैं। आत्म-साधक गुरु का तपस्वी होना अनिवार्य है। तप से ही आत्मा में निखार आता है। इसके विपरीत भोग-विलासों में रत सुविधा भोगी नामधारी गुरु सच्चे गुरु नहीं कहला सकते। तपस्विता सच्चे गुरु की छठी कसौटी है।

2.5 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-सच्चे देव के क्या लक्षण हैं ?

प्रश्न 2-सच्चा शास्त्र किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3-आचार्य समन्तभद्र के अनुसार सच्चे गुरु का स्वरूप बताइये ?

पाठ-3—सम्यग्दर्शन के भेद

भिन्न-भिन्न अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के भेद यहाँ बतलाये जा रहे हैं।

3.1 सराग और वीतराग ये सम्यग्दर्शन

सराग सम्यग्दर्शन—धर्मानुराग युक्त सम्यग्दर्शन सराग सम्यग्दर्शन है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति इसका मुख्य लक्षण है।

प्रशम—क्रोधादिक विकारों का अनुद्रेक।

संवेग—संसार से सतत भीति और मोक्ष की अभिलाषा।

अनुकम्पा—प्राणिमात्र के प्रति दया भाव।

आस्तिक्य—आत्मा, कर्म, कर्मफल और पुनर्जन्म आदि में विश्वास।

वीतराग सम्यग्दर्शन—रागरहित सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह वीतरागी मुनियों को ही होता है क्योंकि यह वीतराग चारित्र का अविनाभावी है। अविनाभाव का अर्थ है—जो जिसके होने पर हो और नहीं होने पर नहीं हो। जैसे—धूम्र और अग्नि का अविनाभाव संबंध है। जहाँ–जहाँ धूम्र होगा, वहाँ अग्नि अवश्य होगी। जहाँ–जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ–वहाँ धूम्र भी नहीं होगा। इसी प्रकार वीतराग चारित्र के अभाव में वीतराग सम्यग्दर्शन सम्भव नहीं है।

3.2 निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन—

व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा भी सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। वीतरागी देव, शास्त्र और गुरु पर एक निष्ठ श्रद्धा व भक्तिव्यवहार सम्यग्दर्शन है तथा शुद्ध आत्मतत्व की प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन है। व्यवहार सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन का साधन है।

3.3 सम्यग्दर्शन के तीन भेद—

सम्यग्दर्शन का अंतरंग हेतु सम्यक्त्व विरोधी कर्मों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है। इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं—

1. उपशम सम्यग्दर्शन

2. क्षायिक सम्यग्दर्शन

3. क्षयोपशम सम्यग्दर्शन

3.3.1 उपशम सम्यग्दर्शन—

सम्यक्त्व विरोधी कर्मों के उपशम/दबने से उत्पन्न सम्यक्त्व उपशम सम्यग्दर्शन है। दर्शन मोहनीय की मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति रूप तीन और चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियाँ–अनन्तानुबन्धी–क्रोध, मान, माया और लोभ, ये सात कर्म प्रकृतियाँ सम्यक्त्व विरोधी कर्म मानी जाती हैं। इनके पूर्णतया उपशान्त होने पर जो सम्यक्त्व उपलब्ध होता है वह उपशम सम्यक्त्व कहलाता है। उपशम सम्यक्त्व की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है। उसके बाद वह नियमतः छूट जाता है।

3.3.2 क्षायिक सम्यग्दर्शन—

उपर्युक्त सातों प्रकृतियों के क्षय से उत्पन्न सम्यक्त्व क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। यह सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद सदा बना रहता है। इसकी उपलब्धि केवली और श्रुतकेवली के पादमूल में रहने वाले कर्मभूमि के मनुष्य को ही होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव मरकर चारों गति में जा सकता है, किन्तु नरक में प्रथम नरक से आगे नहीं जाता। वह भी सम्यक्त्व ग्रहण से पूर्व आयु बँध जाने की स्थिति में। इसी प्रकार जिन्होंने मनुष्यायु या तिर्यञ्चायु का बन्ध कर लिया

है, वे मनुष्य यदि क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं तो भोगभूमि के मनुष्य या तिर्यञ्च बनते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि दो या तीन भवों के अन्तराल में अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

3.3.3 क्षयोपशम सम्यग्दर्शन—

सम्यक्त्व विरोधी कर्मों के कुछ अंशों में क्षय और कुछ अंशों में उपशम से उत्पन्न क्षयोपशम सम्यक्त्व कहलाता है। इस अवस्था में उपर्युक्त सातों प्रकृतियाँ स्थूल रूप से विपाकावस्था में नहीं रहतीं, अपने फल का स्पष्ट अनुभवन नहीं करा पाती हैं। इसे वेदक सम्यग्दर्शन भी कहते हैं।

क्षयोपशम सम्यक्त्व की आगमिक परिभाषा बताते हुए कहा गया है कि मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी–क्रोध, मान, माया, लोभ, इन छह सर्वघाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदित होने वाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा आगामी काल में उदित होने वाले उन्हीं का सदवस्था रूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघाती स्पर्धकों के उदय रहने पर होने वाला सम्यक्त्व क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है।

उक्त परिभाषा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—कर्मों के एक देश क्षय तथा एक देश उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। यद्यपि यहाँ कुछ कर्मों का उदय भी विद्यमान रहता है, परन्तु उनकी शक्ति अत्यन्त क्षीण हो जाने के कारण वह जीव के गुण को घातने में समर्थ नहीं होता। पूर्ण शक्ति के साथ उदय में न आकर शक्तिक्षीण होकर उदय में आना ही यहाँ क्षय या उदयाभावी क्षय कहलाता है और सत्तावाले सर्वघाती कर्मों का अकस्मात् उदय में न आना ही उसका सदवस्था रूप उपशम है।

3.4 सम्यग्दर्शन के दश भेद—

आज्ञा सम्यक्त्व, मार्ग सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेप सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, अगाढ़ सम्यक्त्व और परमावगाढ़ सम्यक्त्व के भेद से सम्यग्दर्शन के दशभेद हैं।

1. **आज्ञासम्यक्त्व**—वीतराग जिनेन्द्र की आज्ञा मात्र का श्रद्धान करने से उत्पन्न सम्यक्त्व।
2. **मार्गसम्यक्त्व**—मोक्ष मार्ग को कल्याणकारी समझकर उस पर अचल श्रद्धान।
3. **उपदेशसम्यक्त्व**—पुराण–पुरुषों के चरित्र श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।
4. **सूत्रसम्यक्त्व**—मुनियों के चरित्र–निरूपक शास्त्रों के श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।
5. **बीजसम्यक्त्व**—बीज पदों के श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।
6. **संक्षेपसम्यक्त्व**—संक्षिप्त तात्त्विक विवेचन के श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।
7. **विस्तारसम्यक्त्व**—तत्त्व के विस्तृत विवेचन के श्रवण से उत्पन्न श्रद्धान।
8. **अर्थसम्यक्त्व**—वचन विस्तार के बिना केवल अर्थ ग्रहण से उत्पन्न तत्त्व श्रद्धान।
9. **अवगाढ़ सम्यक्त्व**—श्रुतकेवली का सम्यक्त्व।
10. **परमावगाढ़ सम्यक्त्व**—केवलज्ञानी का सम्यग्दर्शन।

3.5 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-सराग सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-सराग सम्यग्दर्शन के मुख्य लक्षण कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-सम्यग्दर्शन के प्रमुख तीन भेद कौन से हैं ?

प्रश्न 4-सम्यग्दर्शन के दस भेदों के नाम बताइये ?

पाठ-4—सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष एवं आठ अंग

तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोष—इन पच्चीस दोषों के द्वारा क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के गुण निर्मल न रहकर मलिन हो जाते हैं।

4.1 तीन मूढ़ता—

मूढ़ता का अर्थ है धार्मिक अन्धविश्वास। आत्महित का विचार किये बिना ही अन्धश्रद्धालु बनकर अज्ञानपूर्ण प्रवृत्ति करना मूढ़ता है। मूढ़ता तीन प्रकार की है—1. लोकमूढ़ता, 2. देवमूढ़ता, 3. गुरुमूढ़ता।

लोकमूढ़ता—नदी और समुद्र में 'इससे कल्याण होगा' इस बुद्धि से स्नान करना, बालू और पत्थर के ढेर लगाना, पहाड़ के ऊपर से पड़ना, अग्नि में पड़ना लोकमूढ़ता है।

देवमूढ़ता—ऐहिक सुख की इच्छा से और वर की आशा से राग-द्वेष से मलिन देवों की उपासना करना देवमूढ़ता है।

पाखंडिमूढ़ता—परिग्रह, आरंभ और हिंसा से सहित ऐसे पाखंडी साधुओं का सत्कार करना गुरुमूढ़ता है।

4.2 आठ मद—

क्षणिक संयोगों / भौतिक उपलब्धियों में मदहोश होकर घमण्ड में चूर रहना मद कहलाता है। निमित्तों की अपेक्षा मद आठ प्रकार का होता है।

1. **ज्ञानमद**—थोड़ा ज्ञान पाकर अपने आपको सबसे बड़ा ज्ञानी समझना और यह मानना कि मुझसे बड़ा ज्ञानी कोई और है ही नहीं, ज्ञान मद है।
2. **पूजा/प्रतिष्ठा मद**—अपनी पूजा प्रतिष्ठा या लौकिक सम्मान के गर्व में चूर रहना पूजा या प्रतिष्ठा मद है।
3. **कुलमद**—अपने पितृपक्ष की उच्चता का गर्व करना कुलमद है।
4. **जातिमद**—अपनी माता के वंश का अभिमान करना जाति मद है।
5. **बलमद**—अपने शारीरिक बल के आगे सभी को निर्बल समझना और अपने शरीर के गर्व में डूबे रहना बलमद है।
6. **ऋद्धि / ऐश्वर्य मद**—तपोजनित ऋद्धि अथवा धन, वैभव और ऐश्वर्य पाकर गर्व करना ऐश्वर्यमद है।
7. **तपमद**—अपने आपको सबसे बड़ा तपस्वी मानकर अपने आगे अन्य साधकों को तुच्छ समझना तप मद है।
8. **रूपमद**—थोड़ा रूपवान् और सुन्दर शरीर पाकर अपने रूप के घमण्ड में डूबे रहना रूपमद है।

वस्तुतः सम्यग्दृष्टि इन समस्त उपलब्धियों को कर्माधीन क्षणिक संयोग मानता है। वह यह विचार करता है कि कर्मों के निमित्त से प्राप्त संसार के समस्त संयोग क्षणिक हैं। अतएव शरीर, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि का मद करना अर्थहीन है। रत्नत्रय रूप धर्म ही स्वाधीन है, शाश्वत है, पवित्र, निर्मल और कल्याणस्वरूप है। संसार के अन्य समस्त पदार्थ पर हैं और आत्मोत्थान में बाधक हैं। अतः सम्यग्दृष्टि यदि अपने अन्य साधार्मिकों के साथ ज्ञान, पूजा, कुल, जाति आदि में से किसी एक का भी आश्रय लेकर तिरस्कार का भाव रखता है, तो वह स्वयं उसका 'स्मय'—मद नामक दोष कहलाता है। इससे उसकी विशुद्धि नष्ट होती है और कदाचित् वह अपने स्वरूप से भी च्युत हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ज्ञानादिक हेय नहीं हैं, अपितु ज्ञानादिक का मद हेय है।

4.3 छह अनायतन—

आयतन शब्द का अर्थ घर, आवास, आश्रय अथवा आधार है। यहाँ सम्यग्दर्शन का प्रकरण होने से आयतन का अर्थ धर्म का आधार अथवा घर है। इसके विपरीत अधर्म या मिथ्यात्व के स्थान को अनायतन कहते हैं।

अनायतन छह हैं—कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और इन तीनों के आराधक, ये छहों मिथ्यात्व के पोषक होने से हमारे चित्त

की मलिनता और संसार के अभिवर्धक हैं। भय, आशा, स्नेह अथवा प्रलोभन वश इनकी पूजा आराधना करना और भक्ति–प्रशंसा करना सम्यग्दर्शन के छह अनायतन दोष हैं।

4.4 सम्यग्दर्शन के आठ दोष—

सम्यग्दर्शन के आठ दोष हैं — 1. शंका, 20 कांक्षा, 3. विचिकित्सा, 4. मूढ़दृष्टि, 5. अनुपगूहन, 6. अस्थितीकरण, 7. अवात्सल्य, 8. अप्रभावना।

1. शंका–वीतराग जिनोपदिष्ट तत्त्वों में विश्वास न कर उनके प्रति सशंकित रहना।

2. कांक्षा–भौतिक भोगोपभोगों एवं ऐहिक सुखों की अपेक्षा रखना।

3. विचिकित्सा–रत्नत्रय के प्रति अनादर रखते हुए धर्मात्मा जनों के मलिन शरीर को देखकर उनसे घृणा करना।

4. मूढ़दृष्टि–सत्य और असत्य मार्ग के विचार एवं विवेक से रहित होकर उन्मार्ग एवं उन्मार्गियों के प्रति झुकाव रखना।

5. अनुपगूहन–धर्मात्माओं के दोषों को उजागर कर धर्ममार्ग की निंदा करना।

6. अस्थितीकरण–किसी कारणवश धर्म से स्खलित होते हुये व्यक्ति को धर्म मार्ग में स्थिर करने का प्रयास न करना।

7. अवात्सल्य–साधर्मी जनों से प्रेम नहीं करना, उनसे मात्सर्य और विद्वेष रखना।

8. अप्रभावना–अपने खोटे आचरण और प्रवृत्तियों से धर्ममार्ग को कलंकित करना, धर्ममार्ग के प्रचार–प्रसार में सहभागी न बनना।

4.5 सम्यग्दर्शन के आठ अंग—

जिस प्रकार मानव शरीर में दो पैर, दो हाथ, नितम्ब, पीठ, वक्षस्थल और मस्तक ये आठ अंग होते हैं और इन आठ अंगों से परिपूर्ण रहने पर ही मनुष्य काम करने में समर्थ होता है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के भी निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये आठ अंग हैं। इन आठ अंगों से युक्त सम्यग्दर्शन का पालन करने से ही संसार–संतति का उन्मूलन होता है। इन आठ अंगों में वैयक्तिक उन्नति के लिये प्रारंभिक चार अंग और उपगूहनादि चार अंग सामाजिक उन्नति के लिये आवश्यक हैं। आठ अंगों का स्वरूप इस प्रकार है–

1. निःशंकित अंग–मोक्षमार्ग में अविश्वास नहीं करना, उस पर संदेह व शंका न रखकर अविचल आस्था बनाए रखना।

2. निःकांक्षित अंग–लोक और परलोक संबंधी भौतिक विषय भोगों की आकांक्षा नहीं करना।

3. निर्विचिकित्सा अंग–धार्मिक जनों के ग्लानिजनक रूप को देखकर घृणा नहीं करना, अपितु उनके गुणों के प्रति आदर भाव रखना।

4. अमूढ़दृष्टि अंग–लौकिक प्रलोभन, चमत्कार या दबाव वश कुमार्ग की ओर नहीं झुकना।

5. उपगूहन अंग–दूसरों के दोष तथा अपने गुणों को छुपाकर रखना।

6. स्थितीकरण अंग–किसी कारणवश धर्म मार्ग से च्युत होते हुए व्यक्ति को सहारा देकर उसे धर्म मार्ग में स्थिर करना।

7. वात्सल्य अंग–धर्मात्माओं के प्रति आन्तरिक अनुराग रखना।

8. प्रभावना अंग–जनकल्याण की भावना से अपने आचरण और प्रतिभा से धर्म का प्रचार–प्रसार करना।

इन आठ अंगों की पूर्णता से ही सम्यग्दर्शन सार्थक होता है। जिस प्रकार किसी विषहारी मन्त्र में एक अक्षर भी न्यून हो जाने से वह विष दूर करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार एक अंग से भी हीन सम्यग्दर्शन हमारी संसार संतति को नष्ट नहीं कर सकता।

4.6 सम्यग्दर्शन के आठ गुण—

संवेग, निर्वेग, आत्मनिन्दा, आत्मगर्हा, उपशम, भक्ति, आस्तिक्य और अनुकम्पा सम्यग्दर्शन के आठ गुण हैं। इन

गुणों के माध्यम से सम्यग्दर्शन का अनुमान किया जा सकता है।

1. **संवेग**–धर्म, धर्म के फल और धर्मात्माओं के प्रति अत्यन्त हर्ष, अनुराग और उत्साह बना रहना।

2. **निर्वेग/निर्वेद**–संसार, शरीर और विषय–भोगों से विरक्ति।

3. **आत्मनिन्दा**–अपने दोषों की निन्दा/आलोचना करना।

4. **आत्मगर्हा**–गुरु के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना।

5. **उपशम**–क्रोधादि विकारों को नियंत्रित रखना।

6. **भक्ति**–अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु आदि पूज्यजनों की पूजा, स्तुति, विनय आदि करना।

7. **आस्तिक्य**–आत्मा, कर्म, पाप–पुण्य, स्वर्ग–नरक पुनर्जन्म आदि में विश्वास रखना।

8. **अनुकम्पा**–सभी जीवों के प्रति दया भाव रखना।

4.7 सम्यग्दर्शन के अतिचार—

अतिचार का अर्थ है–प्रतिज्ञा का आंशिक खण्डन। मानव मन की यह दुर्बलता है कि वह अपने जीवन–व्यवहार को मर्यादित व नियंत्रित करने के लिए जो कुछ भी व्रत–नियम अंगीकार करता है, मन उसके विरूद्ध दिशा में आकर्षित होने लगता है। जैसे धरती पर बीज बोने के बाद अंकुरोत्पत्ति के साथ ही अनेक प्रकार के खर, पतवार उग आते हैं, उनकी निंदाई–गुड़ाई करनी पड़ती है, उसी प्रकार व्रत, नियम, संयम आदि अंगीकार करने के बाद भी मनोभूमि में व्रतों को मलिन करने वाली अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ/दुर्वृत्तियाँ उभरने लगती हैं। ये ही अतिचार कहलाते हैं। इनके प्रति सजग रहने की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार हैं–शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव।

1. **शंका**–वीतराग–जिनेन्द्र–प्रतिपादित तत्त्व में अश्रद्धामूलक शंका करना, उसे संदिग्ध दृष्टि से देखना।

2. **कांक्षा**–धर्माचरण से ऐहिक फलों/विषयभोगों की आकांक्षा रखना।

3. **विचिकित्सा**–मुनिजनों की आन्तरिक उज्ज्वलता की ओर न देखकर शारीरिक मलिनता को ही देखना और मन में ग्लानि भाव उत्पन्न करना।

4. **अन्यदृष्टि प्रशंसा**–कुमार्गगामी व्यक्ति की परोक्ष में मन से प्रशंसा करना।

5. **अन्यदृष्टि संस्तव**–कुमार्गगामी व्यक्तियों की मुख से प्रशंसा करना।

ये पाँच अतिचार सम्यक्त्व में मलिनता उत्पन्न करते हैं। यदि प्रारंभ में ही इन्हें नहीं रोका जाए, तो ऐसी स्थिति भी आ सकती है कि बढ़ते–बढते ये दोष पूरे सम्यक्त्व को ही निगल जाएँ। अतः सम्यग्दृष्टि को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जीवन में इनका प्रादुर्भाव ही न होने पाए।

4.8 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम बताइये ?

प्रश्न 2-आठ मद कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 3-सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का उल्लेख करिये ?

प्रश्न 4-सम्यग्दर्शन के अतिचार कौन–कौन से हैं ?

पाठ-5 — सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान का मोक्षमार्ग में दूसरा स्थान है। यद्यपि सूत्रकार ने सम्यग्ज्ञान की चर्चा द्रव्यानुयोग में की है, फिर भी सम्यग्चारित्र के निरूपण से पूर्व सम्यग्ज्ञान का सामान्य परिचय प्रासंगिक है। वस्तुओं को यथारीति जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वास के अनन्तर ज्ञान में सम्यक्पना आता है। यों तो संसार के पदार्थों का ज्ञान हीनाधिक रूप में प्रत्येक व्यक्ति को होता है, पर उस ज्ञान का आत्मविकास के लिए उपयोग करना बहुत ही कम लोग जानते हैं। सम्यग्दर्शन के साथ उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्म विकास का कारण होता है। स्व और पर का भेद विज्ञान यर्थाथतः सम्यग्ज्ञान है। हेय–उपादेय का विवेक करना इसका मूल कार्य है।

5.1 सम्यग्ज्ञान के अंग—

सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग निरूपित किये गये हैं।

1. **शब्दाचार**–मूल ग्रंथ के शब्दों, स्वर, व्यञ्जन और मात्राओं को शुद्ध उच्चारण पूर्वक पढ़ना।
2. **अर्थाचार**–शास्त्र की आवृत्ति मात्र न करके उसका अर्थ समझकर पढ़ना।
3. **तदुभयाचार**–अर्थ समझते हुए शुद्ध उच्चारण सहित पढ़ना।
4. **कालाचार**–शास्त्र पढ़ने योग्य काल में ही पढ़ना, अयोग्य काल में नहीं। दिग्दाह, उल्कापात, सूर्यचन्द्र ग्रहण, सन्ध्याकाल आदि में शास्त्र नहीं पढ़ना चाहिए।
5. **विनयाचार**–द्रव्य, क्षेत्र आदि की शुद्धि के साथ विनयपूर्वक शास्त्र अभ्यास करना।
6. **उपधानाचार**–शास्त्र के मूल एवं अर्थ का बार बार स्मरण करना, उसे विस्मृत नहीं होने देना अथवा नियम विशेष पूर्वक पठन–पाठन करना उपाधानाचार है।
7. **बहुमानाचार**–ज्ञान के उपकरण एवं गुरुजनों की विनय करना।
8. **अनिह्नवाचार**–जिस शास्त्र या गुरु से ज्ञान प्राप्त किया है, उसका नाम न छिपाना।

उक्त आठ अंगों के पालन से सम्यग्ज्ञान पुष्ट एवं परिष्कृत होता है।

5.2 सम्यक्ज्ञान के भेद—

सम्यक्ज्ञान के पाँच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि , मनःपर्यय और केवलज्ञान।

मतिज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान मतिज्ञान है। इसके चार भेद हैं। अवग्रह ईहा अवाह और धारणा। विषय और विषयी के सन्निपात/सम्पर्क के अनन्तर "आदितम कुछ है" इस प्रकार के अर्थबोध को अवग्रह कहते हैं। अवग्रह के द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में और स्पष्ट जानने की इच्छा की ईहा कहते हैं। ईहा में निर्णय की ओर झुकाव होता है। ईहा के बाद एक निर्णय पर पहुँचना अवाय है। अवाय द्वारा गृहीत अर्थ को संस्कार के रूप में धारण कर लेना ताकि कालान्तर में उसकी स्मृति रह सके, धारणा है। पदार्थ ज्ञान का यही क्रम है। ज्ञात वस्तु के ज्ञान में यह क्रम बड़ी द्रुतगति से चलता है।

पूर्वोक्त अवग्रह ज्ञान दो प्रकार का होता है। "अर्थावग्रह और व्यञ्जनावग्रह" व्यंजन अर्थात् अव्यक्त अथवा अस्पष्ट पदार्थों का ज्ञान व्यंजनावग्रह है। यह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों द्वारा ही होता है। व्यक्त अथवा स्पष्ट शब्दादि विषयों को ग्रहण करने वाला ज्ञान अर्थावग्रह कहलाता है। यह पाँचों इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। जैसे–मिट्टी के नये घड़े पर पानी की बूंदे डालने पर वह गीला नहीं होता परन्तु लगातार जल बिन्दुओं को डालते रहने पर वह गीला हो जाता है। उसी प्रकार व्यक्त ग्रहण के पहले अव्यक्त ज्ञान व्यंजनावग्रह है और व्यक्त ग्रहण अर्थावग्रह है।

बहु-बहुविधादि पदार्थों की अपेक्षा मतिज्ञान बारह प्रकार का होता है तथा विस्तार से इन्हीं भेदों की संख्या 336 हो जाती है।

5.3 श्रुतज्ञान —

मतिज्ञान के पश्चात् जो चिन्तन-मनन द्वारा परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। मतिज्ञान द्वारा पदार्थ के विषय में या उसके संबंध से अन्य वस्तु के विषय में जो विशेष चिन्तन आरंभ होता है यह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के लिए शब्द, श्रवण या संकेत आवश्यक है। अमुक शब्द का अमुक अर्थ में संकेत है या जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। शब्द, श्रवण, संकेत मतिज्ञान है। उसके बाद शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक संबंध के आधार पर होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है। इसलिए मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य। मतिज्ञान के अभाव में श्रुतज्ञान संभव नहीं है।

प्राचीन आगम की भाषा में श्रुतज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो श्रुत अर्थात् शास्त्र से संबंधित हो। आप्त/वीतरागी पुरुषों द्वारा रचित आगम या शास्त्रों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं।

इस श्रुतज्ञान के दो भेद हैं-अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य। अंग प्रविष्ट के बारह भेद हैं तथा अंग बाह्य अनेक भेद वाला है।

5.4 अवधिज्ञान —

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना ही मर्यादापूर्वकरूपी पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान अवधिज्ञान है। अवधिज्ञान दो प्रकार का होता है। भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय। देवों और नारकियों को यह ज्ञान जन्म के क्षणों में ही स्वभावतः प्राप्त हो जाता है अतएव वह भव प्रत्यय है। मनुष्य और पशुओं में यह ज्ञान सम्यक् दर्शनादि विशेष गुणों के प्रभाव से ही उत्पन्न होता है। इसलिए इसे गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहते हें। इसके छह भेद हैं— 1. अनुगामी, 2. अननुगामी, 3. वर्धमान, 4. हीयमान, 5. अवस्थित, 6. अनवस्थित।

अनुगामी अवधिज्ञान ज्ञाता का अनुसरण करता हुआ छाया की तरह उसके साथ-साथ जाता है। इसके विपरीत अननुगामी अवधिज्ञान क्षेत्र विशेष से पृथक् होने पर छूट जाता है। वर्धमान अवधिज्ञान शुक्लपक्ष की चन्द्रकलाओं की तरह उत्पत्ति के बाद निरन्तर वृद्धिगत होता रहता है। जबकि हीयमान अवधिज्ञान कृष्णपक्ष की चन्द्र कलाओं की तरह निरन्तर घटता रहता है। अवस्थित अवधिज्ञान एक-सी स्थिति में रहता है तथा अनवस्थित अवधिज्ञान अक्रम से कभी एक रूप नहीं रहता है। यह छह भेद स्वामी की अपेक्षा है। विषयक्षेत्र की अपेक्षा अवधिज्ञान के तीन भेद है। देशावधि, परमावधि और सर्वाविधि। इनके विषयक्षेत्र और पदार्थों के ज्ञान में उत्तरोत्तर अधिक विस्तार और विशुद्धि पाई जाती है। देशावधि एक बार होकर छूट भी सकता है और इस कारण वह प्रतिपाती है किन्तु परमावधि और सर्वावधि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त कभी नहीं छूटते। ये दोनों तद्भव मोक्षगामी मुनियों के ही होते हैं।

5.5 मन:पर्ययज्ञान —

दूसरों के मनोगत अर्थ को जानने वाला ज्ञान मन:पर्ययज्ञान है। यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जैसा सोचता है मन में उसके अनुरूप पुद्गल द्रव्यों की आकृतियाँ/पर्याएँ बन जाती हैं। वस्तुतः मन:पर्यय का अर्थ है मन की पर्यायों का ज्ञान।

मन:पर्ययज्ञान के दो भेद हैं "ऋजुमति और विपुलमति" ऋजुमति सरल मन, वचन, काय से विचार किए गये पदार्थ को जानता है पर विपुलमति मन:पर्ययज्ञान सरल और कुटिल दोनों तरह से विचार किये गये पदार्थों को जानता है। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति की अधिक विशुद्धि होती है। ऋजुमति एक बार होकर छूट भी सकता है किन्तु

विपुलमतीज्ञान केवलज्ञान की प्राप्ति पर्यंत बना रहता है। इसलिए इसे अप्रतिपाती कहते हैं। दोनों प्रकार का मन:पर्ययज्ञान ऋद्धिधारी मुनियों को ही होता है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय की अपेक्षा अन्तर है। अवधिज्ञान के द्वारा ज्ञात किये गये पदार्थ के अनन्तवें भाग को मन:पर्ययज्ञान जानता है।

5.6 केवलज्ञान —

त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों और पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्ष जानने वाला ज्ञान केवलज्ञान है। केवलज्ञानी को ही सर्वज्ञ कहते हैं। केवलज्ञानी केवलज्ञान होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है। केवलज्ञान का विषय सर्वद्रव्य और पर्याय है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो केवलज्ञान का विषय न हो। समस्त ज्ञानावरण कर्म के समूल विनष्ट होने पर यह ज्ञान उत्पन्न होता है। यह पूर्णत: निरावरण और निर्मल ज्ञान है। इस ज्ञान के उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। केवलज्ञान आत्मा की ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकसित रूप है।

5.7 अभ्यास प्रश्न —

प्रश्न 1-सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 2-सम्यग्ज्ञान के आठ अंग कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों का विवेचन करिये ?

प्रश्न 4-अवग्रह ज्ञान किसे कहते हैं ?

प्रश्न 5-अवधिज्ञान कितने प्रकार का होता है ?

प्रश्न 6-अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ?

प्रश्न 7-केवलज्ञानी आत्मा को किस नाम से जानते हैं ?

पाठ-6 – सम्यक्चारित्र

6.1 मोक्षमार्ग की साधना का तीसरा चरण चारित्र है। चारित्र के दो रूप माने गये हैं–निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र। निश्चय चारित्र निवृत्तिमूलक है और व्यवहारचारित्र प्रवृत्तिपरक। चारित्र का बाह्य आचारात्मक पक्ष व्यवहारचारित्र है और उसका आन्तरिक पक्ष निश्चयचारित्र है। निश्चयचारित्र का अर्थ है–समस्त राग–द्वेषादि वैभाविक भावों से रहित होकर परम साम्यभाव में अवस्थिति। यह आत्मरमण की स्थिति है। निश्चयचारित्र की भावना ही जीव के आध्यात्मिक विकास का आधार है। इसे ही समता, वीतरागता या माध्यस्थता भी कहते हैं।

व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध आचार नियमों के परिपालन से है। मन, वचन और काय की अशुभ प्रवृत्तियों को त्यागकर व्रत, समिति आदि शुभ प्रवृत्तियों में लीन होना व्यवहार चारित्र है। इसे देशव्रत और सर्वव्रत इन दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रत चारित्र का सम्बन्ध गृहस्थों से और सर्वव्रत का सम्बन्ध मुनियों से है। गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन किया जाता है तथा मुनि आचार के अन्तर्गत महाव्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा आदि के साथ अट्ठाईस मूलगुणों का पालन किया जाता है।

6.2 सम्यग्दर्शनपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र कहा जाता है-

सम्यक्चारित्र भी सम्यग्दर्शन के समान दो प्रकार का है-निश्चय सम्यक्चारित्र और व्यवहार सम्यक्चारित्र। मन, वचन, काय की प्रवृत्तिरूप बाह्य क्रिया और उपयोग की रागद्वेष रूप आभ्यन्तर क्रिया को रोककर आत्मस्वरूप में स्थित होना सम्यक्चारित्र है। यह वह स्थिति है, जब शुद्ध आत्मस्वरूप की अनुभूति के आनंद का अनुभव होता है, जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता निष्पन्न होती है, जब ध्यान, ध्याता, ध्येय और ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का विकल्प मिट जाता है। जब यह स्थिति स्थाई बन जाती है तो वह सब कर्मों से रहित मोक्ष दशा या जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है, किन्तु जब ऐसी स्थिति अस्थाई होती है, तो उस काल में असंख्यात कर्मों का क्षय हो जाता है और उस स्थिति में कर्मों का नवीन बंध नहीं होता।

व्यवहार सम्यक्चारित्र अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति रूप होता है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति तो मिथ्यादृष्टि भी करता है, किन्तु उसका वह कार्य सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता। सम्यक्चारित्र तो सम्यक्दर्शनपूर्वक ही होता है। व्यवहार सम्यक्चारित्र शुभ प्रवृत्ति रूप है। उसमें शुभराग के अंश रहते हैं। शुभराग से कर्मबंध होता है। इसीलिए अनेक लोग इस चारित्र को हेय भी कहते हैं। वे कहते हैं कि "व्यवहार चारित्र तो जीव ने अनन्त बार धारण किया, किन्तु उसे मुक्ति नहीं मिली। इस चारित्र से कर्मबंध होता है, कर्म–क्षय नहीं होता। राग से वीतरागता नहीं आती। अतः व्रत–समिति–गुप्ति आदि सारा चारित्र व्यवहार मिथ्या है, हेय है।" व्यवहार चारित्र के संबंध में ऐसी जिनकी अश्रद्धा है, उसके दो ही कारण हैं–

1. वीतराग सर्वज्ञ की वाणी पर उनको श्रद्धा नहीं है।
2. उन्होंने चरणानुयोग के ग्रंथों का अध्ययन नहीं किया है।

यह जीव आज तक एक बार भी व्यवहार सम्यक्चारित्र धारता तो, उसे मुक्ति अवश्य मिलती, जो इसे हेय मानकर अंगीकार करने से भय मानता है, उसका संसार अभी लम्बा है। मुक्तिप्राप्ति के लिए तीर्थंकरों और अनन्त मुनियों ने भी इसे धारण किया। यह चारित्र उनकी भूमिकानुसार नहीं हो गया, बल्कि उस भूमिका के बनाने के लिए अर्थात् मुनिपद धारण करने के लिए सर्वपरिग्रह का त्याग करके केशलुंचन किया और मुनियों के व्रत अंगीकार किये। यह सब स्वतः नहीं हो गया, इसके लिए उन्होंने पुरुषार्थ किया।

व्यवहार सम्यक्चारित्र को समझ लिया जाये तो ऐसी भ्रान्ति या सन्देह नहीं रह सकता। व्यवहार सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन होने पर ही कहलाता है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही प्रकार के अंश रहते हैं। वहाँ अशुभ की निवृत्ति हुई,

सो तो निश्चय चारित्र का अंश है और शुभ में प्रवृत्ति हुई, वह व्यवहार नय से चारित्र है। निवृत्ति से कर्मों की निर्जरा होती है। जो प्रवृत्ति है, वह शुभ है, मन्दकषायरूप है। इससे पुण्य प्रकृतियों का तीव्र बंध होता है। व्यवहार सम्यक्चारित्र के जो द्रव्य और भावरूप भेद किए गये है। उनका आशय भी प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप अंश है। जितना रागांश है, वह प्रवृत्ति या द्रव्यरूप है और जितना वीतरागता का अंश है, वह निवृत्ति या भावरूप है। यह चारित्र व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्ररूप है। श्रावक के अणुव्रत और मुनि के महाव्रत आदि सभी चारित्र व्यवहारचारित्र कहलाते हैं।

6.3 मुनियों के प्रधान आचरण को मूलगुण कहते हैं—

'मूल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। फिर भी यहाँ मूल का प्रधान — मुख्य ऐसा अर्थ लिया गया है। 'गुण' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं फिर भी यहाँ 'आचरण विशेष' ऐसा अर्थ लिया है। ये मूलगुण इस लोक और परलोक में हित करने वाले हैं। इस लोक में सर्वजनमान्यता, गुरुपना और सभी जनों के साथ मैत्रीभाव आदि गुण होते हैं और परलोक में देवों का ऐश्वर्य, तीर्थंकरपद, चक्रवर्तिपद आदि प्राप्त होते हैं और परम्परा से यह आत्मा सम्पूर्ण कर्मों से छूट जाता है। इन मूलगुणों के बिना आज तक किसी को शुक्लध्यान की सिद्धि नहीं हुई है और शुक्लध्यान के बिना मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि ये मूलगुण वृक्ष की मूल जड़ या बीज के समान ही मोक्ष के लिए मूलकारण हैं और तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट होने से प्रामाणिक हैं।

6.4 मूलगुण अट्ठाईस हैं—

पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, षट् आवश्यक तथा लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदंतधावन, स्थितिभोजन और एकभक्त।

पाँच महाव्रत—

मुख्यव्रतों को महाव्रत कहते हैं। 'महान् शब्द का अर्थ प्रधान है और व्रत शब्द, सावद्यनिवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति के लिए निमित्तभूत आचरण में आता है अर्थात् मोक्ष के लिए जो हिंसादि पापों का त्याग किया जाता है, उसे ही व्रत कहते हैं। तीर्थंकर आदि महान् पुरुषों के द्वारा इनका अनुष्ठान किया जाता है। इसलिए भी इन्हें महाव्रत कहते हैं।' अथवा महान पुरुषार्थ जो मोक्ष, उसकी प्राप्ति में ये स्वत: ही हेतु होते हैं इसलिए महाव्रत कहलाते हैं। ये पाँच होते हैं।

1. अहिंसा महाव्रत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्कायिक जीवों की हिंसा का मन-वचन-काय से पूर्णतया त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है। इस महाव्रत में सम्पूर्ण आरंभ और परिग्रह का त्याग हो जाता है।

2. सत्य महाव्रत—राग, द्वेष, मोह, क्रोध आदि दोषों से युक्त असत्य वचनों का त्याग कर देना और ऐसा सत्य भी नहीं बोलना कि जिससे प्राणियों का घात हो जावे वह सत्य महाव्रत है।

3. अचौर्य महाव्रत—ग्राम, शहर आदि में किसी की भूली, रखी या गिरी हुई वस्तु को स्वयं नहीं लेना, दूसरों के द्वारा संग्रहीत शिष्य, पुस्तक आदि को भी न लेना तथा दूसरों के द्वारा बिना दी गई ऐसी योग्य वस्तु को भी नहीं लेना सो अचौर्य महाव्रत है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत—राग भाव को छोड़कर पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना। बालिका, युवती और वृद्धा में पुत्री, बहन और माता के समान भाव रखना यह त्रैलोक्य पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत है।

5. परिग्रहत्याग महाव्रत—धन, धान्य आदि दस प्रकार के बहिरंग तथा मिथ्यात्व, वेद आदि चतुर्दश प्रकार के अंतरंग परिग्रह का त्याग कर देना, वस्त्राभूषण अलंकार आदि का पूर्णतया त्याग कर देना, लंगोटी मात्र भी नहीं रखना, सो अपरिग्रह महाव्रत है।

पाँच समितियाँ—

आगम के कहे अनुसार गमनागमन, भाषण आदि में सं—सम्यक् इति प्रवृत्ति करना समिति हैं। ये समितियाँ व्रतों

की रक्षा करने में वृत्ति—बाड़ के समान हैं। इनके भी पाँच भेद हैं—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग।

6. ईर्या समिति—निर्जंतुकमार्ग से सूर्योदय के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर एकाग्रचित्तपूर्वक तीर्थयात्रा, गुरुवंदना आदि धर्म कार्यों के लिए गमन करना ईर्या समिति है।

7. भाषासमिति—चुगली, हंसी, कर्कश, परनिंदा आदि से रहित हित-मित और असंदिग्ध वचन बोलना भाषासमिति है।

8. एषणा समिति—छ्यालिस दोष और बत्तीस अंतराय से रहित नवकोटि से शुद्ध श्रावक के द्वारा दिया गया ऐसा प्रासुक, निर्दोष, पवित्र आहार लेना एषणासमिति है।

9. आदाननिक्षेपण समिति—पुस्तक, कमण्डलु आदि को रखते या उठाते समय कोमल मयूर पिच्छिका से परिमार्जन करके रखना उठाना, तृण, घास, चटाई, पाटे आदि को भी सावधानी से देखकर पिच्छिका से परिमार्जन करके ग्रहण करना या रखना सो आदाननिक्षेपण समिति है।

10. उत्सर्गसमिति—हरी घास से रहित, चिंवटी आदि से या उनके बिलों से रहित प्रासुक और एकांत स्थान में मलमूत्रादि विसर्जन करना यह उत्सर्ग या प्रतिष्ठापनसमिति है।

पञ्चेन्द्रियनिरोध—

स्पर्शन, रसना आदि पाँचों इंद्रियों को वश में रखना, इनको शुभध्यान में लगा देना पंचेन्द्रिय निरोध होता है। इसके भी पाँचों इंद्रियों की अपेक्षा पाँच भेद हो जाते हैं।

11. स्पर्शनइंद्रिय निरोध—सुखदायक, कोमल स्पर्शादि में या कठोर कंकरीली भूमि आदि के स्पर्श में आनंद या खेद नहीं करना।

12. रसनेन्द्रिय निरोध—सरस, मधुर भोजन में या नीरस, शुष्क भोजन में हर्ष-विषाद नहीं करना।

13. घ्राणेन्द्रिय निरोध—सुगंधित पदार्थ में या दुर्गंधित वस्तु में राग-द्वेष नहीं करना।

14. चक्षु इन्द्रिय निरोध—स्त्रियों के सुन्दररूप या विकृत वेष आदि में रागभाव और द्वेषभाव नहीं करना।

15. कर्णेन्द्रिय निरोध—सुन्दर-सुन्दर गीत, वाद्य तथा असुन्दर-निंदा गाली आदि के वचनों में हर्ष विषाद नहीं करना। यदि कोई मधुर गीतों से गान करता हो, तो उसे रागभाव से नहीं सुनना।

छह आवश्यक—

जो अवश्य-जितेन्द्रिय मुनि का कर्तव्य है वह आवश्यक कहलाता है। उसके छह भेद हैं-समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

16. समता—"जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दुख आदि में हर्ष विषाद नहीं करना, समान भाव रखना समता है। इसे ही सामायिक कहते हैं। त्रिकाल में देववंदना करना यह भी सामायिकव्रत है।" प्रातः, मध्यान्ह और सायंकाल में विधिवत् कम से कम एक मुहुर्त—48 मिनट तक सामायिक करना होता है।

17. स्तुति—वृषभ आदि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करना स्तव नाम का आवश्यक है।

18. वंदना—अर्हंतों को, सिद्धों को, उनकी प्रतिमाओं को, जिनवाणी को और गुरुओं को कृतिकर्मपूर्वक नमस्कार करना वंदना है।

19. प्रतिक्रमण—अहिंसादि व्रतों में जो अतीचार आदि दोष उत्पन्न होते हैं, उनको निंदा-गर्हापूर्वक शोधन करना-दूर करना प्रतिक्रमण है। इसके ऐर्यापथिक, दैवसिक/रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक और और पार्थिक ये सात भेद हैं।

20. प्रत्याख्यान—मन, वचन, काय से भविष्य के दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है। आहार ग्रहण के अनन्तर गुरु

के पास अगले दिन आहार ग्रहण करने तक के लिए जो चतुराहार का त्याग किया जाता है वह प्रत्याख्यान कहलाता है।

"अतीतकाल के दोष का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। अनागत और वर्तमानकाल में द्रव्यादि दोष का परिहार करना प्रत्याख्यान है। यही इन दोनों में अन्तर है। तप के लिए निर्दोष वस्तु का त्याग करना भी प्रत्याख्यान है। किन्तु प्रतिक्रमण दोषों के निराकरण हेतु ही है।"

21. कायोत्सर्ग—दैवसिक, रात्रि आदि क्रियाओं में पच्चीस या सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण से तथा चौवन एक सौ आठ आदि श्वासोच्छ्वासपूर्वक णमोकार मंत्र का स्मरण करना। काय—शरीर का उत्सर्ग—त्याग अर्थात् कार्य से ममत्व का त्याग करना कायोत्सर्ग है।

शेष सात गुण—

22. लोंच—हाथों से अपने शिर, दाढ़ी और मूँछ के बाल उखाड़ना केशलोंच मूलगुण है।

23. अचेलकत्व—सूती, रेशमी आदि वस्त्र, पत्र, वल्कल आदि का त्याग कर देना, नग्न वेष धारण करना अचेलकत्व है। यह जितेन्द्रिय महान् पुरुषों के द्वारा स्वीकार किया जाने से तीनों जगत् में वंदनीय महान् पद है। वस्त्रों के ग्रहण करने से परिग्रह, आरंभ, धोना, सुखाना और याचना करना आदि दोष होते हैं। अतः निष्परिग्रही साधु के यह व्रत होता है।

24. अस्नानव्रत—स्नान, उबटन आदि का त्याग करना अस्नानव्रत है। धूलि से धूसरित, मलिन शरीरधारी मुनि कर्ममल को भी धो डालते हैं। चांडाल आदि अस्पृश्य जन का अथवा विष्ठा, हड्डी, चर्म आदि का स्पर्श हो जाने से मुनि दंडस्नान करके गुरु से प्रायश्चित्त भी ग्रहण करते हैं।

25. क्षितिशयन—निर्जंतुक भूमि में घास, पाटा अथवा चटाई पर शयन करना भूमिशयन व्रत है। ध्यान, स्वाध्याय आदि से या गमनागमन से थककर स्वल्प निद्रा लेना होता है।

26. अदंतधावन—दंत मंजन नहीं करना अदंतधावन व्रत है। दांतों को नहीं घिसने से इंद्रिय संयम होता है, शरीर से विरागता प्रगट होती है और सर्वज्ञदेव की आज्ञा का पालन होता है।

27. स्थितिभोजन—पांवों को चार अंगुल अन्तराल से रखकर एक स्थान में खड़े होकर दोनों हाथों की अंजुली बनाकर श्रावक के द्वारा दिया हुआ आहार ग्रहण करना स्थितिभोजन व्रत है।

28. एकभक्त—एक बेला में आहार लेना—सूर्योदय के अनन्तर तीन घड़ी के बाद और सूर्यास्त के तीन घड़ी पहले तक दिन में सामायिक काल को छोड़कर एक बार आहार ग्रहण करना एकभक्त है।

इस प्रकार दिगम्बर जैन साधु इन 28 मूलगुणों का पालन करते हुए इस जगत् में सर्वत्र पूज्य होते हैं और क्रम से मोक्ष को प्राप्त करने वाले होते हैं।

6.5 अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवान के प्रमुख गणधर श्रीगौतमस्वामी श्रावक धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं–

"**पढमं ताव सुदं मे आउस्संतो।**"

हे आयुष्मन्तों भव्यों ! मैंने प्रथम ही सुना है।

क्या सुना है ?

"**गिहत्थधम्मं**" गृहस्थ धर्म सुना है। किनसे सुना है ?

इह खलु– "**भयवदा महदिमहावीरेण**" यहां (विपुलाचल पर्वत पर) भगवान महतिमहावीर के श्रीमुख से सुना है। ये भगवान महावीर कैसे हैं ?

समणेण महाकस्सवेण सवण्हणाणेण सव्वलोयदरसिणा।" जो श्रमण हैं, महाकाश्यप गोत्र में जन्में हैं, सर्वज्ञानी हैं और सर्वदर्शी हैं ऐसे भगवान महावीर ने उपदेश दिया है और हमने सुना है।

किसके लिये उपदेश दिया है ? ''**सावयाणं सावियाणं खुड्डुयाणं खुड्डियाणं कारणेण।**''

श्रावक और श्राविकाओं के लिये तथा क्षुल्लक और क्षुल्लिकाओं के लिए उपदेश दिया है।

क्या उपदेश दिया है ? ''**पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसिदाणि।**'' पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थधर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।

वे गौतमस्वामी उस पाक्षिक यतिप्रतिक्रमण में उपर्युक्त पंक्तियों को कह रहे हैं कि—

"हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है–महाकाश्यप गोत्रीय, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, श्रमण भगवान् महावीर ने श्रावक, श्राविका, क्षुल्लक और क्षुल्लिका इनके लिये पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत, ऐसे बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का सम्यक् उपदेश दिया है।"

यहाँ पर ये पंक्तियाँ बहुत ही महत्व की हैं क्योंकि श्रीगौतमस्वामी मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय इन चारों ज्ञान से सहित थे। बुद्धि, ऋद्धि आदि सात प्रकार की ऋद्धियों से समन्वित थे। जिन्होंने कुछ दिन कम तीस वर्ष तक बराबर श्री महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि को सुना था तथा जिन्होंने स्वयं ही ग्यारह अंग और चौदह पूर्वरूप से ग्रंथ रचना की थी ऐसे महान् गणधर पूर्ण प्रामाणिक श्री गौतमस्वामी गौरवपूर्ण शब्दों में स्वयं कह रहे हैं कि "मैंने सुना है" तथा अतीव कोमल और प्रिय शब्दों में भक्तों को संबोधित करते हुए कह रहे हैं कि "हे आयुष्मन्तों ! मैंने सुना है।" इन शब्दों से श्री गणधरदेव गृहस्थ धर्म को भगवान् महावीर द्वारा कथित सिद्ध कर रहे हैं, जो कि बारह व्रतरूप है।

इन बारह व्रतों में स्वयं गौतमस्वामी के शब्दों में ही आप उनके नाम देखिये—

''**तत्थ इमाणि पंचाणुव्वदाणि पढमे अणुव्वदे थूलयडे पाणादिवादादो वेरमणं, विदिए अणुव्वदे थूलयडे मुसावादादो वेरमणं, तिदिए अणुव्वदे थूलयडे अदत्तादाणादो वेरमणं, चउत्थे अणुव्वदे थूलयडे सदारसंतोस परदारागमणवेरमणं कस्स य पुणु सव्वदो विरदी, पंचमे अणुव्वदे थूलयडे इच्छाकदपरिमाणं चेदि, इच्चेदाणि पंच अणुव्वदाणि।।**''

पांच अणुव्रत—उन बारह व्रतों में से पहले पाँच अणुव्रत हैं। पहले अणुव्रत में स्थूलरूप से प्राणीहिंसा से विरति है। दूसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से असत्य से विरति है। तीसरे अणुव्रत में स्थूलरूप से बिना दिये हुये परद्रव्य से विरति है। चौथे अणुव्रत में स्वदार संतोष है अर्थात् अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष है और परस्त्री से विरति है इसीलिये यह स्थूलरूप से व्रत है अथवा किसी–किसी की सम्पूर्ण स्त्री मात्र से ही विरति है। पाँचवें अणुव्रत में अपनी इच्छा के अनुसार परिग्रह का परिमाण किया गया है। इसलिये इसमें भी परिग्रह का पूर्ण त्याग न होने से स्थूलरूप से विरति है। इसीलिये ये पांच अणुव्रत कहलाते हैं।

तीन गुणव्रत—बारह व्रतों के अंतर्गत तीन गुणव्रत का वर्णन करते हुये श्री गौतमस्वामी कहते हैं–

''**तत्थ इमाणि तिण्णि गुणव्वदाणि, तत्थ पढमे गुणव्वदे दिसिविदिस पच्चक्खाणं, विदिए गुणव्वदे विविधअणत्थदण्डादो वेरमणं, तिदिए गुणव्वदे भोगोपभोगपरिसंखाणं चेदि, इच्चेदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि।।**''

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये तीन गुणव्रत हैं। उनमें से पहले गुणव्रत में दिशा–विदिशाओं का प्रत्याख्यान (नियम) किया जाता है। दूसरे गुणव्रत में विविध प्रकार के अनर्थदण्ड से विरति होती है। तीसरे गुणव्रत में भोग–उपभोग वस्तुओं का परिसंख्यान—परिमाण किया जाता है। इस प्रकार ये तीन गुणव्रत हैं।

चार शिक्षाव्रत—पुनः आगे चार शिक्षाव्रतों को कहते हैं–

''**तत्थ इमाणि चत्तारि सिक्खावदाणि, तत्थ पढमे सामायियं, विदिए पोसहोवासयं, तिदिए अतिथिसंविभागो, चउत्थे सिक्खावदे पच्छिमसल्लेहणामरणं तिदियं अब्भोवस्साणं चेदि।**

उन बारह व्रतों के अंतर्गत ये चार शिक्षाव्रत हैं। उनमें से प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत है, दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है, तीसरा अतिथिसंविभाग व्रत है और चौथा अंत में सल्लेखनामरण नाम का शिक्षाव्रत है, इस प्रकार ये चार शिक्षाव्रत हैं।

ये बारहव्रत धर्म हैं—

''पढम ताव सुदं मे आउस्संतो! इह खलु समणेण भयवदा महदिमहावीरेण महाकस्सवेण सव्वण्हणाणेण सव्वलोयदरिसिणा सावयाणं सावियाणं खुड्डयाणं खुड्डियाणं कारणेण पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारहविहं गिहत्थधम्मं सम्मं उवदेसियाणि।।''

हे आयुष्मन्तों भव्यों ! प्रथम ही मैंने सुना है। यहां भरतक्षेत्र के आर्यखंड में महाकाश्यपगोत्री, सर्वज्ञानी, सर्वलोकदर्शी, श्रमण, भगवान महतिमहावीर ने श्रावक–श्राविकाओं और क्षुल्लक–क्षुल्लिकाओं के लिए पंच अणुव्रत आदि बारहविध गृहस्थ धर्म (श्रावक धर्म) का सम्यक् प्रकार से उपदेश दिया है।

से अभिमद–जीवाजीव–उवलद्ध–पुण्णपाव–आसव–संवर–णिज्जर–बंधमोक्ख–महिकुसले धम्माणु–रायरत्तो पि माणु–रागरत्तो (पेम्माणुरागरत्तो) अट्ठि–मज्जाणुरायरत्तो मुच्छिदट्ठे गिहिदट्ठे विहिदट्ठे पालिदट्ठे सेविदट्ठे इणमेव णिग्गंथापावयणो अणुत्तरे सेअट्ठे सेवणुट्ठे–

अर्थ—उपर्युक्त बारह व्रतों का धारक-जिसने जीव-अजीव तत्त्व को समझ लिया है तथा जिसने पुण्य-पाप, आस्रव-बंध, संवर-निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वों को उपलब्ध कर लिया है ऐसे नव पदार्थों के विषय में अभिकुशल—निपुण व्यक्ति धर्मानुराग से अनुरक्त होकर भी माँ–लक्ष्मी के अनुराग में रक्त है। (गृहस्थ होने से परिग्रह का त्यागी नहीं है) एवं अस्थिमज्जा के समान अनुराग से रक्त है। (जिस प्रकार सात धातुओं में अस्थि–हड्डी मज्जा नामक धातु से निरन्तर संलग्न रहती है उसी तरह सह–धर्मियों के साथ प्रीति का होना ऐसी सघन प्रीति को अस्थिमज्जा प्रीति कहते हैं।) ऐसा गृहस्थ मूर्च्छितार्थ—ममतापूर्वक ग्रहण किये गये पदार्थ में, गृहीतार्थ—सामान्य रूप से ग्रहण किये गये पदार्थ में, विहितार्थ—अपने द्वारा किये गये पदार्थ में, पालितार्थ—अपने द्वारा पालन किये गये पदार्थ में, सेवितार्थ—अपने द्वारा सेवित–उपयोग में आने वाले पदार्थ में, निर्ग्रंथ प्रवचन—मुनियों के प्रवचन में, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, श्रेयो–कल्याणकारी पदार्थ में, सेवितार्थ—सेवन प्रवृत्तिरूप क्रिया में (प्रमाद से जो हुआ हो वह मिथ्या होवे) ऐसा अभिप्राय है।

उसी के अन्तर्गत–

णिस्संकिय णिक्कंखिय णिव्विदिगिंछा अमूढदिट्ठी य।
उवगूहण ट्ठिदिकरणं वच्छल्लपहावणा य ते अट्ठ।।

निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यक्त्व के आठ अंग हैं।

सव्वेदाणि पंचाणुव्वदाणि तिण्णि गुणव्वदाणि चत्तारि सिक्खावदाणि बारसविहं गिहत्थधम्ममणुपालइत्ता।।

दंसण वय सामाइय पोसह सचित राइभत्ते य।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य।।

ये पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत मिलकर बारह प्रकार का गृहस्थ धर्म है। इनका पालन करते हुए श्रावक क्रम से ग्यारह स्थानों को प्राप्त करते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त त्याग, रात्रिभुक्त त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ निवृत्ति, परिग्रह विरति, अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग ये देशव्रत के ग्यारह स्थान हैं।

भावार्थ—श्रीगौतमस्वामी ने यहां इन बारह व्रतों को गृहस्थ का धर्म कहा है।

तथा जो ग्यारह स्थान बताए हैं, इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। इनमें से दर्शन प्रतिमा से लेकर रात्रिभुक्त त्याग प्रतिमा तक छह प्रतिमा तक के व्रत ग्रहण करने वाले श्रावक गृहस्थ हैं, इन्हें जघन्य श्रावक संज्ञा है। ब्रह्मचर्य व्रत से लेकर परिग्रह

विरति तक मध्य के तीन प्रतिमा वाले मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा वाले उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो क्षुल्लक–ऐलक ही होते हैं।

आगे श्री गौतमस्वामी कहते हैं–

महुमंसमज्जजूआ वेसादिविवज्जणासीलो।
पंचाणुव्वयजुत्तो सत्तेहिं सिक्खावएहिं संपुण्णो।।

मधु, मांस, मद्य, जुआ और वेश्या आदि व्यसन इनको त्याग करने वाला, पाँच अणुव्रतों से युक्त तथा सात शिक्षाव्रतों से परिपूर्ण गृहस्थ होता है। यहाँ मद्य, मांस, मधु के त्याग का आदेश दिया है–

भावार्थ— **जुआ खेलना मांस मद, वेश्यागमन शिकार।**
चोरी पररमणी रमण, सातों व्यसन निवार।।

इस प्रकार जुआ और वेश्या आदि शब्द से सातों व्यसनों के त्याग का उपदेश दिया गया समझना चाहिए।

यहाँ महत्त्वपूर्ण विषय यह है कि गौतमस्वामी जैसे चार ज्ञान धारी, सप्तऋद्धि समन्वित, तद्भवमोक्षगामी, गणधरदेव स्वयं गृहस्थ श्रावक को आत्मा–आत्मा का ही उपदेश न देकर मद्य, मांस,, मधु त्याग और जुआ आदि व्यसनों के त्याग का उपदेश दे रहे हैं तथा इसे ही वे गृहस्थों के लिए 'धर्म' शब्द से घोषित कर रहे हैं। जो आज इस त्याग की परम्परा को 'धर्म' नहीं कहते हैं उन्हें इन पंक्तियों को देखना चाहिए। ये पंक्तियां साक्षात् गौतमस्वामी के मुखकमल से विनिर्गत हैं।

6.6 पुनः वे स्वयं इस गृहस्थ धर्म के फल को बतलाते हुए कहते हैं—

'जो एदाइं वदाइं धरेइ सावया सावियाओ वा खुड्डुय, खुड्डियाओ वा अट्ठदह भवणवासियवाण–विंतरजोइसियसोहम्मीसाणदेवीओ वदिक्कमित्तं उपरिम अण्णदरमहड्ढियासु देवेसु उववज्जंति।' 'जो श्रावक, श्राविकायें अथवा क्षुल्लक–क्षल्लिकायें इन व्रतों को धारण करते हैं वे अठारह स्थान, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी और सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों का व्यतिक्रम कर ऊपर में अन्य किन्हीं भी महर्द्धिक देवों में उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि और व्रती चाहे स्त्री हों या पुरुष, वे भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देव–देवियों में जन्म नहीं लेते हैं तथा सौधर्म–ईशान स्वर्ग की देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। अर्थात् कल्पवासी देवों की देवियां दो स्वर्ग तक ही जन्म लेती हैं। आगे तीसरे से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक के देव अपनी–अपनी देवियों की उत्पत्ति ज्ञातकर आकर अपने–अपने स्वर्ग में ले जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कल्पवासी देवियों में भी जन्म नहीं लेते हैं। इनसे अतिरिक्त सोलह स्वर्गों में विशेष ऋद्धिधारी देवों में जन्म लेते हैं।

6.7 सम्यग्दृष्टि कहां–कहां जन्म लेते हैं ? सो ही बताते हैं—

तं जहा–सोहम्मीसाणसणक्कुमारमाहिंदबंभबंभुत्तरलांतवकापिट्ठसुक्कमहासुक्कसतारसहस्सार–आणतपाणतआरणअच्चुदकप्पेसु उववज्जंति।

अडयंबरसत्थधरा, कडयंगदबद्धनउडकयसोहा।
भासुरवरबोहिधरा, देवा य महड्ढिया होंति।।

सौधर्म, ईशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लांतव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत इन कल्पों में उत्पन्न होते हैं।

वहां नाना प्रकार के वस्त्र–आभरण–कटक, अंगद, मुकुट आदि से शोभायमान, दिव्य वैक्रियिक शरीर के धारक और देदीप्यमान बोधि के धारक महर्द्धिक देव होते हैं।

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि वस्त्र सहित क्षुल्लक, ऐलक आदि जो कि संयमासंयम को धारण करने वाले

पंचमगुणस्थानवर्ती हैं ये सोलह स्वर्ग के ऊपर नहीं जा सकते हैं। इन कल्पों के ऊपर दिगम्बर मुनि ही जाते हैं। भले ही कोई द्रव्यलिंगी ही क्यों न हो वह भी अंतिम ग्रैवेयक तक जाने की योग्यता रखता है। यहाँ पर तो गृहस्थधर्म की महानता को बतलाया है।

पुनः श्री गणधरदेव कहते हैं—

उक्कस्सेण दो तिण्णि भवगहणाणि जहण्णेण सत्तट्ठभवगहणाणि तदो समणुसुत्तादो सुदेवत्तं सुदेवत्तादो सुमाणुसत्तं तदो साइहत्था पच्छा णिग्गंथा होऊण सिज्झंति बुज्झंति मुंचंति परिणिव्वाणयंति सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।'

ये श्रावक या श्राविका अथवा क्षुल्लक या क्षुल्लिका उत्कृष्टपने से दो या तीन भव ग्रहण करते हैं, जघन्यरूप से सात या आठ भव ग्रहण करते हैं। इन भवों में भी सुमनुष्यत्व से सुदेवत्व-अच्छे, कुलीन, श्रेष्ठ, राजा, महाराजा आदि मनुष्य होकर उत्कृष्ट जाति के देव हो जाते हैं। सुदेवत्व से सुमनुष्यत्व को प्राप्त कर लेते हैं पुनः अन्तिम भव में नियम से निर्ग्रंथ मुनि होकर सिद्ध हो जाते हैं, बुद्ध हो जाते हैं, परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं और सभी दुःखों का अंत कर देते हैं।

विशेषार्थ—

यह है गृहस्थ धर्म का फल, श्री गणधर देव के शब्दों में। अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुए गृहस्थधर्म का पालन करना कितने महत्व की बात है यह समझना आवश्यक है। वास्तव में जो गृहस्थ, मद्य, मांस आदि के त्यागी होते हैं, जुआ आदि दुर्व्यसनों से दूर रहते हैं और अणुव्रतों का पालन करते हैं। वे घर में रहते हुए भी बहुत ही सुखी रहते हैं। राजनैतिक अन्याय न करने से उन्हें मानसिक शांति बनी रहती है। सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं और सभी जनों में विश्वस्तता को भी प्राप्त कर लेते हैं। इन धर्मों से युक्त गृहस्थों को सर्वत्र सुख, शांति, यश और धन की वृद्धि आदि प्राप्त होते हैं तथा परभव में स्वर्ग के सुख भोगकर पुनः चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि के भी पुण्य को प्राप्त कर परम्परा से मोक्ष को प्राप्तकर शाश्वत सुख के भोक्ता बन जाते हैं। इसलिए गृहस्थाश्रम में रहते हुए प्रत्येक स्त्री या पुरुष को अणुव्रत आदि गृहस्थधर्मों का पालन करना बहुत ही आवश्यक है, सर्वथा हितकर ही है ऐसा समझना चाहिए क्योंकि यह धर्म भगवान महावीर ने अपनी दिव्यध्वनि में कहा है और श्री गौतमस्वामी ने तीस वर्ष तक उनके पादमूल में रहकर उनसे श्रवण किया है और परमकरुणा बुद्धि से गृहस्थों के लिए कहा है।

6.8 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-सम्यग्चारित्र का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 2-पाँच महाव्रतों का विवेचन करिये ?

प्रश्न 3-मुनि (साधु) के मूलगुण कितने होते हैं ?

प्रश्न 4-श्रावक के बारह व्रत कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 5-सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ-कहाँ जन्म लेते हैं ?

इकाई–2 कर्म सिद्धान्त

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) कर्म का स्वरूप एवं कर्मबंध की प्रक्रिया

(2) कर्म के भेद-प्रभेद एवं प्रत्येक कर्मबंध के कारण

(3) कर्म की विविध अवस्थाएँ

(4) कर्म की फलदान प्रक्रिया और ईश्वर

(5) कर्म मुक्ति के उपाय

पाठ-1 – कर्म का स्वरूप एवं कर्मबंध की प्रक्रिया

1.1 कर्म का अस्तित्व—

इस विशाल जगत् और अपने जीवन में जब हम झांककर देखते हैं, तो हमें अनेक विविधता दिखाई पड़ती है। जगत् विविधताओं का केन्द्र है, तथा जीवन विषमताओं से घिरा है। जगत् में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई निर्धन, कोई धनवान, कोई ऊँच, कोई नीच, कोई पंडित, कोई मूर्ख, कोई सुंदर, कोई कुरूप, कोई दुर्बल, कोई बलवान, कोई उन्मत्त, कोई विद्वान, कहीं जीवन, कहीं मरण, कोई बड़ा, कोई छोटा आदि अनेक विविधताएँ पायी जाती हैं। सर्वत्र वैचित्र्य ही दिखता है तथा जीवन में भी अनेक विषमताएँ हैं। हमारा जीवन भी आशा–निराशा, सुख–दुःख, प्रसन्नता–अप्रसन्नता, हर्ष–विषाद अनुकूलता–प्रतिकूलता आदि अनेक परिस्थितियों से गुजरता हुआ व्यतीत होता है। जीवन में कहीं समरूपता नहीं है। जगत की इस विविधता और जीवन की विषमता का कोई न कोई तो हेतु होना ही चाहिए। वह हेतु है 'कर्म'। कर्म ही जगत की विविधता और जीवन की विषमता का जनक है।

1.2 कर्म का स्वरूप—

जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। सामान्तः कर्म सिद्धांत का यही अभिप्राय है। कर्म को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं (सिर्फ चार्वाक को छोड़कर, क्योंकि वहाँ तो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं स्वीकार करते) इस सिद्धांत में एक मत होते हुए भी कर्म के स्वरूप और उसके फल देने के संबंध में सबकी अपनी–अपनी मान्यताएँ हैं। 'कर्म' का शाब्दिक अर्थ 'कार्य', प्रवृत्ति अथवा क्रिया होता है, अर्थात् जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। जैसे–हंसना, रोना, चलना, दौड़ना, खाना, पीना आदि। व्यवहार में काम–धंधे या व्यवसाय को 'कर्म' कहा जाता है। कर्मकांडी मीमांसक, यज्ञ आदि क्रियाओं को कर्म कहते हैं। मनुस्मृति में चार वर्ण और चार आश्रमों के योग्य कर्त्तव्यों को कर्म कहा गया है। पौराणिक लोग व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाओं को कर्म मानते हैं। वैय्याकरण जो कर्त्ता के लिए इष्ट हो, उसे कर्म मानते हैं। न्याय शास्त्र में उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन रूप पाँच प्रकार की क्रियाओं के लिए 'कर्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है। योग–दर्शन में संस्कार को 'अपूर्व वासना' अथवा 'कर्म' कहा जाता है। बौद्धदर्शन में कर्म वासना रूप है। जैन दर्शन में कर्मविषयक मान्यता इन सबसे पृथक है। जैन सिद्धांत में जो कर्म सिद्धांत का विवेचन मिलता है वह अत्यंत विशद तथा अर्थपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार कर्म का अर्थ कायिक क्रियाकांडों एवं अन्य प्रवृत्तियों से नहीं है। न ही बौद्धों और वैशेषिकों की तरह संस्कार मात्र है, अपितु कर्म भी एक पृथक् सत्ता भूत पदार्थ है।

1.3 जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप—

जैन दर्शन में कर्म को पुद्‌गल–परमाणुओं का पिंड माना गया है। तद्नुसार यह लोक तेईस प्रकार की पुद्गल–वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल–परमाणु कर्म रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्म वर्गणा कहते हैं। कुछ शरीर

रूप से परिणत होते हैं वे नोकर्म-वर्गणा कहलाते हैं। लोक इन दोनों प्रकार के परमाणुओं से पूर्ण है। जीव अपने मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से इन्हें ग्रहण करता है। मन, वचन और काय की प्रवृत्ति तभी होती है जब जीव के साथ कर्म संबद्ध हो, तथा जीव के साथ कर्म तभी संबद्ध होते हैं, जब मन, वचन या काय की प्रवृत्ति हो। इस प्रकार कर्म से प्रवृत्ति तथा प्रवृत्ति से कर्म की परम्परा अनादि से चली आ रही है। कर्म और प्रवृत्ति के इस कार्यकारण भाव को दृष्टिगत रखते हुए पुद्‌गल परमाणुओं के पिंड रूप कर्म को 'द्रव्य कर्म' तथा रागद्वेषादि रूप प्रवृत्तियों को 'भाव कर्म' कहा गया है। द्रव्य कर्म और भाव कर्म का कार्य-कारण संबंध वृक्ष और बीज के समान अनादि है।

जगत की विविधता का कारण उक्त द्रव्य-कर्म ही है, तथा राग-द्वेषादि मनोविकार रूप भाव-कर्म ही जीवन में विषमता उत्पन्न करते हैं।

1.4 अमूर्त का मूर्त से बंध कैसे?—

इस प्रसंग में यह जिज्ञासा सहज ही हो जाती है कि जीव चेतनावान, अमूर्त पदार्थ है तथा कर्म पौद्गलिक पिंड। तब मूर्त का अमूर्त आत्मा से बंध कैसे होता है? मूर्तिक का मूर्तिक से संबंध तो उचित है, किन्तु मूर्तिक का अमूर्तिक से संबंध कैसे होता है?

इस प्रश्न का समाधान जैनाचार्यों ने अनेकांतात्मक शैली में दिया है। जैन दर्शन में संसारी आत्मा को आकाश की तरह सर्वथा अमूर्त नहीं माना गया है। उसे अनादि बंधन-बद्ध होने के कारण मूर्तिक भी माना गया है। बंध पर्याय में एकत्व नहीं के कारण आत्मा को मूर्तिक मानकर भी वह अपने ज्ञान आदि स्वभाव का परित्याग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अमूर्तिक कहा गया है। इसी कारण अनादि बंधन-बद्धता होने से उसका मूर्त कर्मों के साथ बंध हो जाता है।

जिस प्रकार घी (नामक पदार्थ) मूलतः दूध से उत्पन्न होता है, परन्तु एक बार घी बन जाने के बाद उसे पुनः दूध रूप में परिणत करना असंभव है, अथवा जिस प्रकार स्वर्ण नामक पदार्थ मूलतः पाषाण में पाया जाता है परन्तु एक बार स्वर्ण बन जाने पर उसे किट्टिमा के साथ मिला पाना असंभव है। उसी प्रकार जीव भी सदा ही मूलत; कर्मबद्ध (सशरीरी) उपलब्ध होता है, परन्तु एक बार कर्मों से संबंध छूट जाने पर पुनः इसका शरीर के साथ संबंध हो पाना असंभव है। जीव मूलतः अमूर्तिक या कर्म रहित नहीं है, बल्कि कर्मों से संयुक्त रहने के कारण वह अपने स्वभाव से च्युत उपलब्ध होता है। इस कारण वह मूलतः अमूर्तिक न होकर, कथंचित् मूर्तिक है। ऐसा स्वीकार कर लेने पर उसका मूर्त कर्मों के साथ बंध हो जाना, विरोध को प्राप्त नहीं होता। हां, एक बार मुक्त हो जाने पर वह सर्वथा अमूर्तिक अवश्य हो जाता है और तब कर्म के साथ उसके बंध होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

1.5 कब से बंधे हैं कर्म ?

जैसे—स्वर्ण-पाषाण को खदान से निकालने पर वह कालिका और किट्टिमा रूप विकृति-युक्त होता है। उसे रासायनिक प्रयोगों से पृथक् कर शुद्ध किया जाता है। उसी तरह संसारी जीवों का कर्मों से अनादि-कालीन संबंध है। साधना और तपश्चर्या के बल पर कर्मों को अलग कर आत्मा से परमात्मा बना जा सकता है। जैन मान्यता के अनुसार संसार में रहने वाला प्रत्येक जीव कर्मों से बंधा हुआ है। जीव कभी शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ हो, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यदि वह शुद्ध था तो फिर उसके अशुद्ध होने का कोई कारण ही बनता। यदि फिर भी वह अशुद्ध होता है, तब तो मुक्ति के उपाय की बात ही निरर्थक हो जाती है।

इसी बात का समाधान करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि "जीव और कर्म का अनादि से संबंध है इन कर्मों के कारण ही संसार की नाना योनियों में भटकता हुआ यह जीव सदा से दुःखों का भार उठाता आ रहा है।" कर्म बंध और संसार परिभ्रमण को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुंद-कुन्द स्वामी ने अपने 'पंचास्तिकाय' में कहा है कि—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दुहोदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदि सु गदि।।
गदि मधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयगहणं तत्तो दु रागो व दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेवं भावं संसार चक्क वालम्मि।
इदि जिणवरेंहिं भणिदं अणादि णिहणों सणिहणों वा।।

संसार में जितने भी जीव हैं, उनमें राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से कर्म बंधते हैं। कर्मों से चार गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है तथा शरीर में इंद्रियां होती हैं, इनसे विषयों का ग्रहण होता है तथा विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार संसाररूपी चक्र में भ्रमण करते हुए जीव के भावों से कर्मों का बंध तथा कर्म बंध से जीव के भाव, संतति की अपेक्षा अनादि से चला आ रहा है। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा अनंत है तथा भव्य जीवों की अपेक्षा अनादिसांत।

1.6 अनादि का अंत कैसे?—

ऐसा नहीं है कि इस अनादि कर्म-बंध का अंत असंभव ही हो। इस विवेचन में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कर्म-चक्र राग-द्वेष के निमित्त से घड़ी यंत्र की भांति सतत् चलता रहता है, तथा जब तक राग-द्वेष और मोह के वेग में कमी नहीं आती तब तक यह कर्मचक्र निर्बाध रूप से चलता रहता है। राग-द्वेष के अभाव में क्रियाएँ कर्म-बंध नहीं करातीं। इस बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' में कहा है कि कोई व्यक्ति अपने शरीर को तेल से लिप्त कर धूली-पूर्ण स्थान में जाकर शस्त्र संचालन करता है, और ताड़, केला, बांस आदि के वृक्षों का छेदन करता है, उस समय वह धूल उड़कर उसके शरीर से चिपक जाती है। वस्तुतः देखा जाए तो उस व्यक्ति का शस्त्र-संचालन शरीर में धूल चिपकाने का कारण नहीं है। वास्तविक कारण तो तेल का लेप ही है, जिससे धूल का संबंध होता है। यही कारण है कि जब व्यक्ति बिना तेल लगाए पूर्वोक्त क्रियाएँ करता है तो धूल नहीं लगती। इसी प्रकार राग-द्वेष रूपी तेल से लिप्त आत्मा में कर्म-रज आकर चिपकती है और आत्मा को मलिन बनाकर इतना पराधीन कर देती है कि अनंतर-शक्ति संपन्न जीवात्मा, कठपुतली की तरह, कर्मों के इशारे पर नाचा करता है।

जीव और कर्म के संबंध को संतति की अपेक्षा अनादि मानते हुए भी पर्याय की दृष्टि से सादि-संबंध माना गया है। बीज और वृक्ष के संबंध पर दृष्टि डालें, तो संतति की अपेक्षा उनका कारण-कार्य भव अनादि होगा। जैसे अपने सामने लगे आम के वृक्ष का कारण हम उस बीज को कहेंगे, यदि हमारी दृष्टि प्रतिनियत आम के पेड़ तक ही जाती है तो हम उसे उस बीज से उत्पन्न कहकर सादि-संबंध सूचित करेंगे। किन्तु इस बीज के उत्पादक अन्य वृक्ष तथा अन्य वृक्ष के जनक अन्य बीज की परंपरा पर दृष्टि डालें तो इस दृष्टि से यह संबंध अनादि मानना होगा। कुछ दार्शनिकों का मानना है कि जो अनादि है उसका अंत नहीं हो सकता, किन्तु वस्तु स्थिति ऐसा नहीं है। यह कोई अनिवार्य नहीं है कि अनादि वस्तु अनंत ही है। वह अनंत भी हो सकता है तथा विरोधी कारण के आ जाने पर अनंत होने वाले संबंध का मूलोच्छेद भी किया जा सकता है, कहा भी है—

दग्धे बीजे यथात्यन्ते प्रादुर्भवति नाङ्कुरः।
कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुरः।।

अर्थात् बीज के जल जाने पर पुनः नवीन वृक्ष से निमित्त बनने वाला अंकुर उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार कर्म बीज के भस्म हो जाने पर भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता।

इस प्रकार बीज और वृक्ष की संतति की तरह जीव और कर्मों का परस्पर निमित्त-नैमेत्तिक संबंध है। जीव के

अशुद्ध परिणामों के निमित्त से पुद्गल-वर्गणाएँ कर्म रूप परिणत हो जाती हैं तथा पुद्गल कर्मों के निमित्त से जीव के अशुद्ध परिणाम होते हैं। फिर भी जीव कर्म-रूप नहीं होता तथा कर्म जीव-रूप नहीं होता। दोनों के निमित्त से संसार चक्र चलता रहता है।

1.7 कैसे बंधते हैं कर्म ?

जैन दर्शनानुसार लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ कर्म योग्य पुद्गल परमाणु नहीं हो। जीव के मन, वचन और काय के निमित्त से अर्थात् जीव के मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति के कारण कर्म योग्य परमाणु चारों ओर से आकृष्ट हो जाते हैं तथा कषायों के कारण जीवात्मा से चिपक जाते हैं। इस प्रकार कर्म-बंध के दो ही कारण माने गए हैं-योग और कषाय। शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्ति को योग कहते हैं तथा क्रोधादिक-विकार कषाय के अंतर्गत है। वैसे कषायों के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु स्थूल रूप से दो भेद किए गए हैं-'राग और द्वेष'। राग-द्वेष युक्त शारीरिक, वाचनिक और मानसिक प्रवृत्ति ही कर्म-बंध का कारण है। वैसे तो सभी क्रियाएँ कर्मोपार्जन का हेतु बनती हैं किन्तु जो क्रियाएँ कषाय-युक्त होती हैं उनसे होने वाला बंध बलवान होता है, जबकि कषायरहित क्रियाओं से होने वाला बंध निर्बल और अल्पायु होता है। इसे नष्ट करने में अल्प शक्ति एवं अल्प समय लगता है। इस प्रकार योग एवं कषाय कर्म बंध के प्रमुख कारण हैं।

1.8 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप क्या है ?

प्रश्न 2-कर्मबंध कब से प्रारंभ हुआ ?

प्रश्न 3-कर्मबंध की प्रक्रिया क्या है ?

प्रश्न 4-कर्मबंध का अन्त कब होता है ?

प्रश्न 5-अनादिसांत का क्या अर्थ है ?

पाठ-2—कर्म के भेद-प्रभेद एवं प्रत्येक कर्मबंध के कारण

2.1 कर्म के मूल भेद—

जैन कर्म-शास्त्र की दृष्टि से कर्म की आठ मूल प्रकृतियाँ हैं, जो प्राणियों के अनुकूल और प्रतिकूल फल प्रदान करती हैं। वे हैं-1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अंतराय।

इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय ये चार कर्म घातिया हैं, क्योंकि इनसे आत्मा के गुणों का घात होता है। शेष चार कर्म अघातिया हैं क्योंकि ये आत्मा के किसी गुण का घात नहीं करते, बल्कि आत्मा को एक ऐसा रूप प्रदान करते हैं जो उसका निजी नहीं है, अपितु भौतिक है।

ज्ञानावरण कर्म से आत्मा के ज्ञान का घात होता है। दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन-गुण का घात करता है। मोहनीय कर्म जीव के सम्यक् श्रद्धा और चारित्र-गुण को नष्ट करता है। अंतराय कर्म से जीव का वीर्य अर्थात् शक्ति का घात होता है। आयु कर्मसे आत्मा को नरकादि गतियों की प्राप्ति होती है। नाम कर्म के कारण जीव को चित्र-विचित्र शरीर और गतियाँ मिलती हैं, तथा गोत्र कर्म प्राणियों में उच्चत्व और नीचत्व का कारण है।

इन आठ कर्मों के कार्यों को दर्शाने के लिए आठ उदाहरण दिए गए हैं। 'ज्ञानावरणी' कर्म का कार्य कपड़े की पट्टी की तरह है। जिस प्रकार आँख पर बंधी पट्टी दृष्टि का प्रतिबंधक है, वैसे ही ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण को प्रकट नहीं होने देता। दर्शनावरणी कर्म प्रतिहारी की तरह है। जिस प्रकार द्वारपालों की अनुमति के बिना किसी महल में प्रवेश नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार दर्शनावरण-कर्म जीव को अनंत-दर्शन करने से रोकता है। 'वेदनीय' कर्म तलवार की धार पर लगे शहद के स्वाद की तरह होता है, जो एक क्षण को सुख देता है, पर उसका परिणाम दु:खद होता है। 'मोहनीय' कर्म मद्य की तरह है। जिस प्रकार मद्य के नशे में व्यक्ति को अपने हित-अहित का विचार नहीं रहता तथा वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विचार किए बिना कुछ भी आचरण करता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म भी जीव को विवेकशून्य कर उसकी आचार और विचार शक्ति को रोकता है। 'आयु' कर्म खूंटे की तरह है। जिस प्रकार खूंटे से बंधा पशु उसके चारों और ही घूमता है, वैसे ही आयु कर्म से बंधा जीव उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। 'नाम' कर्म चित्रकार की तरह है। जिस प्रकार चित्रकार छोटे-बड़े, अच्छे-बुरे अनेक प्रकार के चित्रों का निर्माण करता है उसी प्रकार नाम कर्म जीव के चित्र-विचित्र शरीर का निर्माण करता है। 'गोत्र' कर्म कुम्हार की तरह है। जिस प्रकार कुम्हार छोटे-बड़े बर्तनों का निर्माण करता है, उसी प्रकार गोत्र कर्म जीव को उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराता है। 'अंतराय' कर्म भंडारी की तरह है। जिस प्रकार भंडारी की अनुमति के बिना राजकोष से धन नहीं निकाला जा सकता, उसी प्रकार अंतराय कर्म जीव की अनंत शक्ति का प्रच्छादक है।

इस प्रकार ये आठ कर्मों के मूल भेद हैं। किन्तु इनकी उत्तर प्रकृत्तियों के प्रभेद 148 हो जाते हैं।

2.2 कर्म के उत्तर भेद—

1. ज्ञानावरण कर्म-ज्ञानावरण कर्म जीव के ज्ञान गुण को आच्छादित—आवृत करता है। जिसके कारण इस संसार अवस्था में उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। जिस प्रकार देवता की मूर्ति पर ढका हुआ वस्त्र देवता को आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म ज्ञान को आच्छादित किए रहता है। इतना होने पर भी वह जीव की ज्ञान-शक्ति को पूर्णतया आवृत नहीं कर पाता। जिस प्रकार सघन-घटाओं से आच्छादित रहने पर भी सूर्य प्रकाश का अभाव (दिन में) पूर्णतया नहीं हो पाता, उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म का तीव्रतम उदय होने पर भी वह जीव की ज्ञान शक्ति को पूर्णतया नष्ट/आवृत नहीं कर सकता, जिससे कि जीव सर्वथा ज्ञान शून्य होकर जड़वत् हो सके। ज्ञानावरणी कर्म के पाँच उत्तर भेद हैं—1. मतिज्ञानावरण, 2. श्रुतज्ञानावरण, 3. अवधिज्ञानावरण, 4. मन:पर्ययज्ञानावरण, 5.

केवलज्ञानावरण। ये पाँचों कर्म क्रमशः पूर्वोक्त पाँच ज्ञानों को आवृत करते हैं।

निम्न कारणों से ज्ञानावरणी कर्म का विशेष बंध होता है-

1. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधन के प्रति द्वेष रखने से।
2. ज्ञानदाता गुरुओं का नाम छिपाने से।
3. ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों का नाश करने से।
4. ज्ञान के साधनों की विराधना करने से।
5. किसी के ज्ञान में बाधा डालने से।

2. दर्शनावरणी कर्म—

पदार्थों की विशेषता को ग्रहण किए बिना केवल उनके सामान्य धर्म का अवभास करना दर्शन है। दर्शनावरणी कर्म उक्त दर्शन गुण को आवृत करता है। दर्शन गुण के सीमित होने पर ज्ञानोपलब्धि का द्वार बंद हो जाता है। इसकी तुलना राजा के द्वारपाल से की जा सकती है। द्वारपाल राजा से मिलने में किसी व्यक्ति को बाधा पहुँचाता है। जिस प्रकार द्वारपाल की अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति राजा से नहीं मिल सकता, वैसे ही दर्शनावरणी कर्म वस्तुओं के सामान्य बोध को रोकता है। पदार्थों को देखने में अड़चन डालता है। इसकी नौ उत्तर प्रकृत्तियाँ हैं—1. चक्षु दर्शनावरण, 2. अचक्षु दर्शनावरण, 3. अवधि दर्शनावरण, 4. केवल दर्शनावरण, 5. निद्रा, 6. निद्रा-निद्रा, 7. प्रचला, 8. प्रचला-प्रचला, 9. स्त्यानगृद्धि।

'चक्षु दर्शनावरण कर्म' नेत्रों द्वारा होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है। चक्षु के अलावा शेष इंद्रियों से होने वाले सामान्य बोध को 'अचक्षु-दर्शनावरण' रोकता है। 'अवधि-दर्शनावरण' इंद्रिय और मन के बिना होने वाले रूपी पदार्थ के सामान्य बोध को रोकता है। तथा केवल दर्शनावरण कर्म सर्वद्रव्यों और पर्यायों की युगपत होने वाले सामान्य अवबोध को रोकता है।

हल्की नींद को निद्रा कहते हैं। ऐसी नींद कि प्राणी आवाज लगाते ही जाग उठे, 'निद्राकर्म' से उत्पन्न होती है। 'निद्रा-निद्रा' कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है, जिससे प्राणी बड़ी मुश्किल से जाग पाता है। प्रचला कर्म के उदय से जीव खड़े-खड़े या बैठे-बैठे ही सो जाया करता है। प्रचला-प्रचला कर्म के उदय से नींद में मुख से लार बहने लगती है, तथा हाथ-पैर आदि चलायमान हो जाते हैं। 'स्त्यानगृद्धि कर्म' के उदय से ऐसी प्रगाढ़तम नींद आती है, जिससे व्यक्ति दिन में या रात्रि में सोते हुए कार्य-विशेष को निद्रावस्था में ही संपन्न कर देता है।

निद्रा में आत्मा का अव्यक्त उपयोग होता है अर्थात् उसे वस्तु का सामान्य आभास नहीं हो सकता। इसलिए 'निद्रा' के पाँच भेदों को दर्शनावरणी कर्म के उत्तर भेदों में परिगणित किया गया है। चक्षुदर्शनावरणादि चारों दर्शनावरणीकर्म दर्शन-शक्ति के प्राप्ति में बाधक होते हैं।

जिन कारणों से ज्ञानावरणी कर्म का बंध होता है, दर्शनावरणी कर्म भी उन्हीं साधनों से बंधता है। अंतर केवल इतना है कि यहाँ ज्ञान और ज्ञान के साधन न होकर, दर्शन और दर्शन के साधनों के प्रति वैसा व्यवहार होने पर, दर्शनावरणी बंधती है।

3. वेदनीय कर्म—

जो कर्मजीव को सुख या दुःख का वेदन कराता है, वह वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का होता है-1. साता वेदनीय एवं 2. असाता वेदनीय। जिस कर्म के उदय से प्राणी को अनुकूल विषयों की प्राप्ति से सुख का अनुभव होता है, वह 'साता' वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति होने पर दुःख का संवेदन होता है वह 'असाता' वेदनीय कर्म है। वेदनीय कर्म की तुलना मधु से लिप्त तलवार से की गयी है। जिस प्रकार शहद लिप्त तलवार

की धार को चाटने से पहले अल्प-सुख और फिर अधिक दुःख होता है, वैसे ही पौद्‌गलिक सुख में दुःखों की अधिकता होती है। मधु को चाटने के सदृश, साता-वेदनीय है और जीभ कटने की तरह असाता-वेदनीय है।

वेदनीय कर्म बंध के कारण : सभी प्राणियों पर अनुकंपा रखने से, व्रतियों की सेवा करने से, दान देने से, हृदय में शांति और पवित्रता रखने से, साधुओं या श्रावकों के व्रत पालन से, कषायों को वश में रखने से साता-वेदनीय कर्म का बंध होता है।

इसके विपरीत स्वपर को दुःख देने से, शोकमग्न रहने से, पीड़ा पहुँचाने आदि आचरण करने से दुःख के कारणभूत असाता वेदनीय कर्म का बंध होता है। असाता वेदनीय कर्म के फलस्वरूप देह सदा रोग पीड़ित रहता है तथा बुद्धि और शुद्ध क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। यह प्राणी अपने हित के उद्योग में तत्पर नहीं हो सकता।

4. मोहनीय कर्म—

जो कर्म आत्मा को मोहित करता है, मूढ़ बनाता है, वह मोहनीय कर्म है। इस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर संसार में भटकता है। मोहनीय कर्म संसार का मूल है। इसीलिए इसे 'कर्मों का राजा' कहा गया है। समस्त दुःखों की प्राप्ति मोहनीय कर्म से ही होती है। इसीलिए इसे 'अरि' या 'शत्रु' भी कहते हैं। अन्य सभी कर्म मोहनीय के अधीन हैं। मोहनीय कर्म राजा है, तो शेष कर्म प्रजा। जैसे राजा के अभाव में प्रजा कोई कार्य नहीं कर सकती, वैसे ही मोह के अभाव में अन्य कर्म अपने कार्य में असमर्थ रहते हैं। यह आत्मा के वीतराग-भाव तथा शुद्ध स्वरूप को विकृत करता है। जिससे आत्मा राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यह कर्म स्वपर विवेक एवं स्वरूप रमण में बाधा समुपस्थित करता है।

इस कर्म की तुलना मदिरापान से की गयी है, जैसे मदिरा पान से मानव परवश हो जाता है, उसे अपने तथा पर के स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह हिताहित के विवेक से शून्य हो जाता है वैसे ही मोहनीय कर्म के उदय से जीव को तत्त्व-अतत्त्व का भेद विज्ञान नहीं हो पाता। वह संसार के विकारों में उलझ जाता है।

दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के भेद से मोहनीय कर्म दो प्रकार का है—

दर्शन मोहनीय—यहाँ 'दर्शन' का अर्थ-तत्वार्थ श्रद्धान रूप आत्म गुण है। आप्त, आगम या पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। जो उस दर्शन को मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे 'दर्शन मोहनीय' कर्म कहते हैं। जैसे मदिरापान से बुद्धि मूर्च्छित हो जाती है, वैसे ही दर्शन मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा का विवेक विलुप्त हो जाता है। यह अनात्मीय पदार्थों को आत्मीय समझता है। वह तत्त्व को अतत्त्व, अतत्त्व को तत्त्व तथा धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझने लगता है।

दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—

1. मिथ्यात्व, 2. सम्यक्‌मिथ्यात्व, 3. सम्यक्‌त्वप्रकृति।

(1) मिथ्यात्व कर्म—जो कर्म तत्त्व में श्रद्धा उत्पन्न नहीं होने देता और विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करता है, वह 'मिथ्यात्व' कर्म है। इस कर्म के उदय से जीव की वह मूढ़ अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिससे वस्तु के वास्तविक स्वरूप के ग्रहण की योग्यता सर्वथा तिरोहित हो जाती है।

(2) सम्यक् मिथ्यात्व—यह कर्म तत्त्व श्रद्धा में दोलायमान स्थिति उत्पन्न करता है। इस कर्म के उदय से न तत्त्व के प्रति रुचि रहती है, न अतत्त्व के प्रति। इसलिए इसे मिश्र-मोहनीय कर्म भी कहते हैं। यह सम्यक्‌त्व और मिथ्यात्व का मिश्रित रूप है।

(3) सम्यक्त्व प्रकृति—जो कर्म सम्यक्त्व को तो नहीं रोकता, किन्तु उसमें चल, मलिन और अगाढ़ दोष उत्पन्न करता है, वह 'सम्यक्त्व प्रकृति' मोहनीय कर्म है।

इस प्रकार मिथ्यात्व-प्रकृति अश्रद्धा रूप होती है तथा सम्यक-मिथ्यात्व प्रकृति श्रद्धा और अश्रद्धा से मिश्रित होती है तथा सम्यक्त्व-प्रकृति से श्रद्धा में शिथिलता या अस्थिरता होती हैं जिसके कारण चल, मलिन और अगाढ़ ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। यह प्रकृति सम्यक्त्व का घात तो नहीं करती, परंतु शंकादिक दोषों को उत्पन्न करती है।

चारित्र मोहनीय—

पाप की क्रिया की निवृत्ति को चारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व, असंयम और कषाय पाप है। इनके त्याग को चारित्र कहते हैं। इस चारित्र के विघातक कर्म को चारित्र-मोहनीय कहते हैं अथवा अपने स्वरूप में रमण करना चारित्र है। जो उस चारित्र का विघातक है, उसे 'चारित्र मोहनीय' कहते हैं। कषाय-वेदनीय और नोकषाय-वेदनीय के भेद से चारित्र मोहनीय के भी दो भेद हैं। कषाय वेदनीय मुख्य रूप से चार प्रकार का है-1. क्रोध, 2. मान, 3. माया और 4. लोभ।

क्रोधादि चारों कषाय तीव्रता व मंदता की दृष्टि से चार-चार प्रकार की होती है। अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन। इस प्रकार कषाय वेदनीय के कुल सोलह भेद हो जाते हैं, जिनके उदय से क्रोधादिक भाव होते हैं।

(अ) अनंतानुबंधी—अनंतानुबंधी के प्रभाव से जीव को अनंतकाल तक भव-भ्रमण करना पड़ता है। इसके उदय में सम्यक्त्व और चारित्र दोनों ही नहीं हो पाते।

(ब) अप्रत्याख्यान—'प्रत्याख्यान' का अर्थ होता है 'त्याग'। जिस कषाय के उदय से ईषत् त्याग अर्थात् देश संयम ग्रहण न किया जा सके, वह अप्रत्याख्यान कषाय है।

(स) प्रत्याख्यान—जिस कषाय के उदय से सकल-संयम को ग्रहण न किया जा सके वह 'प्रत्याख्यान' कषाय है।

(द) संज्वलन—जिस कषाय के उदय से सकल-संयम तो हो जाए, किन्तु आत्म स्वरूप में स्थिरता रूप यथाख्यात चारित्र न हो, उसे 'संज्वलन' कषाय कहते हैं।

क्रोध चतुष्क—उक्त अनंतानुबंधी आदि कषायों की शक्ति में तरतमता है। इन्हें जैनाचार्यों ने विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट किया है। अनंतानुबंधी क्रोध को पर्वत की गहरी दरार की तरह कहा गया है, जो एक बार फटने के बाद पुनः नहीं मिलती। उसी प्रकार अनंतानुबंधी कषाय का संबंध भव-भवों तक नहीं छूटता। 'अप्रत्याख्यान' के क्रोध को भूमि की दरार की तरह कहा गया है। जैसे गर्मी के दिनों में सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने से दरार पड़ जातीं हैं, किन्तु वर्षा होते ही वह दरार मिट जाती है, उसी प्रकार प्रत्याख्यान कषाय धूलि रेखा के समान है। गुरुओं के उपदेशामृत की वर्षा से धीरे-धीरे शांत हो जाती है। यह अधिक से अधिक पंद्रह दिन तक अपना प्रभाव दिखाती है। संज्वलन क्रोध को 'जल की लकीर' की तरह कहा गया है। जैसे जल की लकीर खींचते ही मिट जाती है, वैसे ही यह कषाय उत्पन्न होते ही शांत हो जाती है। इसका वासनाकाल अंतर्मुहूर्त कहा गया है।

मान चतुष्क—इसी प्रकार अनंतानुबंधी आदि चारों प्रकार के मान को क्रमशः शैल, अस्थि, काष्ठ तथा बेल (लता) की उपमा दी गयी है। जैसे शैलादिकों में कड़ापन उत्तरोत्तर अल्प होता है, वैसे ही ये चारों कषाय उत्तरोत्तर मंद प्रभाव वाले हैं।

माया चतुष्क : अनंतानुबंधी आदि चारों प्रकार की माया क्रमशः बांस की गठीली जड़, भेड़ की सींग, गोमूत्र और खुरपे के सदृश कुटिल कही गयी है। इनका प्रभाव भी उत्तरोत्तर अल्प है।

लोभ चतुष्क : इसी तरह चारों प्रकार के लोभ को क्रमशः किरमिजी का दाग, पहिये का औंगन (अक्षनल), कीचड़ एवं हल्दी के रंग की तरह कहा गया है। अनंतानुबंधी किरमिजी के रंग के सदृश है जो कि किसी भी उपाय से नहीं छूटता। अप्रत्याख्यानावरण गाड़ी के पहिये में लगने वाले (ओगन) मल की तरह है, जिसका दाग कठिनता से छूटता है। प्रत्याख्यानावरण लोभ कीचड़ या (देहमल) काजल की तरह है, जो अल्प परिश्रम के छूट जाता है। संज्वलन लोभ

हल्दी के सदृश है, जो सहज ही छूट जाता है। उक्त चारों कषाएँ क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य एवं देव गति में उत्पत्ति के कारण हैं।

उपरोक्त सोलह कषायों की शक्ति को निम्न तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं—

कषाय की अवस्था	क्रोध	मान	माया	लोभ	फल
अनंतानुबंधी	शिलारेखा	शैल	बांस की जड़	किरमिजी	नरक
अप्रत्याख्यान	पृथ्वी रेखा	अस्थि	भेड़ का सींग	अक्षमल	तिर्यंच
प्रत्याख्यान	धूली रेखा	काष्ठ	गोमूत्र	कीचड़	मनुष्य
संज्वलन	जल रेखा	लता/बेल	खुरपा	हल्दी	देव

नोकषाय वेदनीय—

जिनका उदय कषायों के साथ होता है या जो कषायों से प्रेरित होती हैं, वे नोकषाय हैं। इन्हें अकषाय भी कहते हैं। नोकषाय या अकषाय का तात्पर्य कषायों का अभाव नहीं, अपितु ईषत् कषाय है। इनके नौ भेद हैं-हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद। इनका अर्थ इनके नामों से ही स्पष्ट है।

इस प्रकार दर्शन मोहनीय के तीन तथा कषाय वेदनीय के सोलह और नोकषाय वेदनीय के नौ, इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल अट्ठाईस भेद हो जाते हैं।

मोहनीय कर्म के बंध का कारण—

सत्यमार्ग की अवहेलना करने से और असत्य मार्ग का पोषण करने से आचार्य, उपाध्याय, गुरु, साधु संघ आदि सत्य-पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन-मोहनीय कर्म का बंध होता है, जिसके फलस्वरूप जीव के संसार का अंत नहीं होता।

स्वयं पाप करने से तथा दूसरों को कराने से, तपस्वियों की निंदा करने से, धार्मिक कार्यों में विघ्न उपस्थित करने से, मद्य-मांसादि का सेवन करने और कराने से, निर्दोष व्यक्तियों में दूषण लगाने से चारित्र मोहनयी कर्म का बंध होता है।

5. आयु कर्म—

जीव की किसी विवक्षित शरीर के टिके रहने की अवधि का नाम आयु है। इस आयु का निमित्तभूत कर्म 'आयु' कर्म कहलाता है। जीवों के जीवन की अवधि का नियामक आयु है। इस कर्म के अस्तित्व से प्राणी जीवित रहता है और क्षय होने पर मृत्यु के मुख में जाता है। मृत्यु का कोई देवता या उस जैसी कोई अन्य शक्ति नहीं है। अपितु आयु कर्म के सद्भाव और क्षय पर ही जन्म और मृत्यु अवलंबित है। इस कर्म की तुलना कारागार से की गई है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को अपराध के अनुसार नियत समय के लिए कैद में डाल देता है। अपराधी की इच्छा होने पर भी वह अपनी अवधि को पूर्ण किये बिना मुक्त नहीं हो सकता वैसे ही आयु कर्म के कारण जीव देह-मुक्त नहीं हो सकता। आयु कर्म का कार्य दुःख देना नहीं है, किन्तु निश्चित समय तक किसी एक भव में रोके रहना है।

आयु दो प्रकार की होती है-अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय।

कारण प्राप्त होने पर जिस आयु की काल मर्यादा में कमी हो सके, उसे अपवर्तनीय आयु कहते हैं, तथा बड़े-बड़े कारण आने पर भी निर्धारित आयु की काल मर्यादा एक क्षण को भी कम न हो, उसे अनपवर्तनीय आयु कहते हैं। अपवर्तनीय आयु विष, वेदना, रक्तक्षय, शस्त्रघात, पर्वतारोहण आदि निमित्तों के मिलने से अपनी अवधि से पूर्व ही समाप्त हो सकती है। इसे ही 'अकालमरण' या 'कदलीघात' मरण कहते हैं। जैसे यदि किसी की 10 वर्ष की अवधि में

कभी भी मरण प्राप्त कर सकता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपनी शेष आयु को अगली योनि या पर्याय में जाकर भोगता है, अपितु मृत्यु के क्षय में ही वह अपनी शेषायु को भोग लेता है। जैन दर्शन के नियमानुसार आयु के क्षय होने पर ही मरण होता है। जब तक आयु कर्म का एक भी परमाणु शेष रहता है, तब तक मरण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से एक आयु को दूसरी योनि में जाकर भोगना मात्र कल्पना की उड़ान है।

इसे ऐसे समझें। यदि किसी पेट्रोमेक्स में तेल भरा हो, तो वह अपने क्रम से जलने पर छह घंटे जलता है। यदि उसका बर्नर लीक करने लगे तो, वह पूरा तेल जल्दी ही जल जाता है तथा टैंक के फट जाने पर तो सारा तेल उसी क्षण जल जाता है। इसी प्रकार आयु कर्म भी तेल की तरह है। जब तक कोई प्रतिकूल निमित्त नहीं आते, तब तक वह अपने क्रम से उदय में आता है तथा प्रतिकूल निमित्तों के जुटने पर वह अपने क्रम का उल्लंघन भी कर देता है। यह भी संभव है कि वह एक अंतर्मुहूर्त में ही अपनी करोड़ों वर्ष की आयु को भोग कर समाप्त कर डाले।

देव, नारकी, भोगभूमि के जीव, चरम देहधारी, तीर्थंकर, अनपवर्तनीय आयु वाले होते हैं। इनकी आयु का घात समय-पूर्व नहीं होता। इसीलिए इनका अकाल मरण भी नहीं होता। शेष जीवों में दोनों प्रकार की संभावना है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जैन दर्शन के नियमानुसार आयु कर्म घट तो सकता है, किन्तु पूर्व में बांधी हुई आयु में एक क्षण की भी वृद्धि नहीं हो सकती।

आयु कर्म के बंध संबंधी विशेष नियम—

आठ मूल कर्मों में आयु कर्म का बंध सदा नहीं होता। इसके बंध का विशेष नियम है। अपने जीवन की दो तिहाई आयु व्यतीत होने पर ही आयु कर्म बंधता है, वह भी अंतर्मुहूर्त तक। इसे अपकर्षकाल कहते हैं। एक मनुष्य/तिर्यंच के जीवन में ऐसे आठ अवसर आते हैं जिनमें वह आयु बांधने के योग्य होता है। इसके मध्य वह आयु का बंध कर ही लेता है अन्यथा मृत्यु से अंतर्मुहूर्त पूर्व तो आयु का बंध हो ही जाता है। कोई भी जीव नयी आयु का बंध किए बिना, नूतन भव को प्राप्त नहीं होता। आयु का बंध न होने पर जीव मुक्त हो जाता है।

मान लीजिये किसी व्यक्ति की आयु 81 वर्ष की आयु हो, तो वह 54 वर्ष की अवस्था तक आयु कर्म के बंध के योग्य नहीं होता। वह पहली बार आयु कर्म का बंध 54 वर्ष की अवस्था में कर सकता है। यदि उस काल में न हो, तो शेष 27 में से दो-तिहाई (अर्थात् 18 वर्ष बीतने पर) यानि 72 वर्ष की अवस्था में। उस काल में भी न हो तो शेष नौ वर्ष में से छह वर्ष बीतने पर, अर्थात् 78 वर्ष की अवस्था होने पर। उसमें भी न हो तो शेष तीन में से दो वर्ष बीतने पर, अर्थात् 80 वर्ष की अवस्था में। और यदि उसमें भी न हो तो शेष एक वर्ष में से 8 माह बीतने पर अर्थात् 80 वर्ष 8 माह की अवस्था में। यदि उसमें भी न बंधे तो शेष चार माह में से 80 दिन बीत जाने के बाद अर्थात् 80 वर्ष, 10 माह और 20 दिन की अवस्था में। यदि उसमें भी न बंधे, तो शेष 40 दिन के त्रिभाग, 26 दिन 16 घंटे बीत जाने के उपरांत अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 16 दिन तथा 16 घंटे की अवस्था में। यदि इसमें भी न बंधे, तो शेष अवधि में से 8 दिन, 21 घंटे तथा 20 मिनिट बीत जाने पर अर्थात् 80 वर्ष, 11 माह, 25 दिन, 13 घंटे, 20 मिनिट की आयु में आयु कर्म का बंध हो जाता है यदि उसमें भी न हो पाये तो मरण के अंतर्मुहूर्त पूर्व तो आयु बंध कर ही लेता है।

आयु बंध का यह नियम मनुष्य और तिर्यंचों के लिए है। देव, नारकी तथा भोगभूमि के जीव अपने जीवन के 6 माह शेष रहने पर आयु बंध के योग्य होते हैं। इस छह माह में उनके भी आठ अपकर्ष होते हैं।

आयु बंध के कारण—

हिंसा आदि कार्यों में निरंतर प्रवृत्ति, दूसरे के धन का हरण, इंद्रिय विषयों में अत्यंत आसक्ति तथा मरण के समय क्रूर परिणामों से 'नरकायु' का बंध होता है।

धर्मोपदेश में मिथ्या बातों, को मिलाकर उसका प्रचार करना, शील रहित जीवन बिताना, अति संधान प्रियता

अर्थात् विश्वासघात, वंचना और छल-कपट करना आदि 'तिर्यंच' आयु के बंध के कारण हैं।

स्वभाव से विनम्र होना, भद्र प्रकृति का होना, सरल व्यवहार करना, अल्पकषाय का होना, तथा मरण के समय संक्लेश रूप परिणति का नहीं होना आदि 'मनुष्यायु' के बंध के कारण हैं।

संयम, तप धारण करने से, व्रताचरण से, मंद कषाय करने से, श्रेष्ठ धर्म को सुनने से, दान देने से, धर्मायतनों की सेवा तथा रक्षा करने से तथा सम्यक्दृष्टि होने से 'देवायु' का बंध होता है।

6. नाम कर्म—

'नाना मिनोतीति नामः' जो जीव के चित्र-विचित्र रूप बनाता है वह नाम कर्म है। इसकी तुलना चित्रकार से की है। जिस प्रकार चित्रकार अपनी तूलिका और विविध रंगों के योग से सुंदर-असुंदर आदि अनेक चित्रों को निर्मित करता है, उसी तरह नाम कर्म रूपी चितेरा, जीव के भले-बुरे, सुन्दर-असुंदर, लंबे-नाटे, मोटे-पतले, छोटे-बड़े, सुडौल-बेडौल आदि शरीरों का निर्माण करता है। जीव का विविध आकृतियों एवं शरीरों का निर्माण इसी नाम कर्म की कृति है। विश्व की विचित्रता में नाम कर्म रूप चितेरे की कला अभिव्यक्त होती है। इस नाम-कर्म के मुख्य बयालीस भेद हैं, तथा इसके उपभेद कुल तेरानवें हो जाते हैं—

1. गति—जिस कर्म के उदय से जीव एक योनि से अगली योनि में जाता है, वह 'गति' नाम-कर्म है। गतियाँ चार हैं-मनुष्य, देव, नरक एवं तिर्यंच।

2. जाति—जिस नाम-कर्म के उदय से सदृशता के कारण जीवों का बोध हो, उसे जाति नाम-कर्म कहते हैं। जातियाँ पाँच हैं—एकेन्द्रिय, दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय तथा पाँच इंद्रिय।

3. शरीर—शरीर की रचना करने वाले कर्म को शरीर नाम-कर्म कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं-औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्माण शरीर।

4. आंगोपांग—जिस कर्म के उदय से शरीर के अंग और उपांगों की रचना होती है, अर्थात् शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की रचना करने वाला कर्म 'आंगोपांग' नाम-कर्म है। इसके तीन भेद हैं-औदारिक, वैक्रियिक व आहारक। तीनों अपने-अपने शरीर के अनुरुप आंगोपांगों की रचना करते हैं। तैजस और कार्माण शरीर सूक्ष्म होने के कारण आंगोपांग रहित होते हैं।

5. निर्माण—शरीर के आंगोपांगों की समुचित रूप से रचना करने वाला 'निर्माण' नाम-कर्म है।

6. बंधन—शरीर का निर्माण करने वाले पुद्गलों को परस्पर बांधने वाले कर्म-बंधन नाम-कर्म हैं। पूर्वोक्त शरीर के अनुसार यह पाँच प्रकार का है।

7. संघात—निर्मित शरीर के परमाणुओं को परस्पर छिद्र रहित बनाकर एकीकृत करने वाले कर्म को शरीर-संघात नाम-कर्म कहते हैं। इसके अभाव में शरीर तिल के लड्डू की तरह अपुष्ट रहता है। यह भी शरीरों की तरह पाँच प्रकार का होता है।

8. संस्थान—शरीर की विविध आकृतियाँ प्रदान करने वाला कर्म 'संस्थान' नाम-कर्म है।

संस्थान छह भेद हैं—

(1) समचतुरस्त्र संस्थान—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जीव के सुंदर, सुडौल और समानुपातिक शरीर बनाने वाले कर्म को 'समचतुरस्त्र-संस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

(2) न्यग्रोध परिमंडल—न्यग्रोध अर्थात् 'वट के वृक्ष' की तरह, नाभि के ऊपर की ओर मोटे और नीचे की ओर पतले शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'न्यग्रोध' परिमंडल संस्थान नाम-कर्म कहते हैं।

(3) स्वाति—सर्प की वामी की तरह नाभि के ऊपर पतले तथा नीचे की ओर मोटे आकार वाला शरीर बनाने

वाला कर्म स्वाति संस्थान नाम-कर्म है।

(4) कुब्जक—कुबड़ा शरीर बनाने वाले कर्म को 'कुब्जक संस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

(5) वामन—बौना शरीर बनाने वाला कर्म 'वामन-संस्थान नाम-कर्म' है।

(6) हुंडक—अनिर्दिष्ट आकार को हुंडक कहते हैं। ऐसे अनिर्दिष्ट आकार का विचित्र शरीर बनाने वाले कर्म को 'हुंडक संस्थान नाम-कर्म' कहते हैं।

संहनन—

अस्थि बंधनों में विशिष्टता को उत्पन्न करने वाले कर्म को 'संहनन नाम कर्म' कहते हैं। वेष्टन, त्वचा, अस्थि और कीलों के बंधन की अपेक्षा इसके छह भेद हैं—1.वज्रवृषभनाराच, 2.वज्रनाराच संहनन, 3. नाराच संहनन, 4. अर्द्धनाराच संहनन, 5. कीलक संहनन, 6. असंप्राप्तसृपाटिका संहनन।

10. वर्ण—शरीर को वर्ण (रंग) प्रदान करने वाले कर्म को 'वर्ण नाम-कर्म' कहते हैं। यह कृष्ण, नील, रक्त, पीत एवं श्वेत रूप पाँच प्रकार के होते हैं।

11. गंध—शरीर को सुगंध एवं दुर्गंध प्रदान करने वाले कर्म को 'गंध नाम-कर्म' कहते हैं।

12. रस—तिक्त, कटु, आम्ल, मधुर और कसैला रस अर्थात् स्वाद उत्पन्न करने वाले कर्म को 'रस नाम-कर्म' कहते हैं।

13. स्पर्श—हल्का, भारी, कठोर, मृदु, शीत, उष्ण तथा स्निग्ध, रूक्ष आदि स्पर्श के भेदों से शरीर को प्रतिनियत स्पर्श उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्पर्श नाम-कर्म' कहलाता है।

14. आनुपूर्व्य—देहत्याग के बाद नूतन शरीर धारण करने के लिए होने वाली गति को 'विग्रह गति' कहते हैं। विग्रह गति में पूर्व शरीर का आकार बनाने वाले कर्म को 'आनुपूर्व्य नाम-कर्म' कहते हैं। गतियों के आधार पर यह चार प्रकार का है।

15. अगुरुलघु—जो कर्म शरीर को न तो लोह पिण्ड की तरह भारी, न ही रुई के पिण्ड की तरह हल्का होने दे, वह 'अगुरुलघु नाम-कर्म' है। इस कर्म से शरीर का आयतन बना रहता है। इसके अभाव में जीव स्वेच्छा से उठ-बैठ भी नहीं सकता।

16. उपघात—इस कर्म के उदय से जीव विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से कष्ट पाता है। जैस प्रतिजिह्वा और चोरदन्त आदि।

17. परघात—दूसरों को घात करने के योग्य तीक्ष्ण नख, सींग, दाढ़ आदि अवयवों को उत्पन्न करने वाले 'कर्म को 'परघात नाम-कर्म' कहते हैं।

18. उच्छ्वास—इस कर्म की सहायता से श्वासोच्छ्वास चलता है या ग्रहण होता है।

19. आतप—जिस कर्म के उदय से अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश निकलता है। यह कर्म सूर्य और सूर्यकांत मणियों में रहने वाले एकेन्द्रियों को होता है। उनका शरीर शीतल होता है तथा ताप उष्ण होता है।

20. उद्योत—चंद्रकांत मणि और जुगनू आदि की तहर शरीर में शीतल प्रकाश उत्पन्न करने वाला कर्म 'उद्योत नाम-कर्म' है।

21. विहायोगति—जिस कर्म के उदय से आकाश में गमन होता है, वह विहायोगति नामकर्म है। यह प्रशस्त और अप्रशस्त के भेद से दो प्रकार की है।

22. प्रत्येक—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है। अर्थात् जिस कर्म के उदय से भिन्न-भिन्न शरीर प्राप्त होता है, वह 'प्रत्येक शरीर नाम-कर्म' है।

23. साधारण—जिस कर्म के उदय से अनंत जीवों को एक ही शरीर प्राप्त हो वह 'साधरण नाम-कर्म' है।

24. त्रस—जिस कर्म के उदय से द्विइन्द्रियादि जीवों में उत्पन्न हों उसे 'त्रस नाम-कर्म' कहते हैं।

25. स्थावर—पृथ्वी, अप, तेज, वायु और वनस्पति आदि एकेन्द्रियों में उत्पन्न कराने वाला कर्म 'स्थावर नाम-कर्म' है।

26. बादर—स्थूल शरीर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'बादर नाम-कर्म' है।

27. सूक्ष्म—सूक्ष्म अर्थात् दूसरों को बाधित एवं दूसरों से बाधित न होने वाले शरीर को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सूक्ष्म नाम-कर्म' है। इस कर्म का उदयमात्र एकेन्द्रिय जीवों के होता है।

28. पर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य आहारादिक पर्याप्तियों को पूर्ण कर सके इसे 'पर्याप्ति नाम-कर्म' हैं।

29. अपर्याप्ति—जिस कर्म के उदय से जीव स्व-योग्य पर्याप्तियों को पूर्ण न कर सके, उसे 'अपर्याप्ति नाम-कर्म' कहते हैं।

30. स्थिर—शरीर के अस्थि, मांस, मज्जा आदि धातु, उपधातुओं को यथा स्थान स्थिर रखने वाले कर्म को 'स्थिर नामकर्म' कहते हैं।

32. अस्थिर—शरीर का धातु तथा उपधातुओं को अस्थिर रखने वाला कर्म 'अस्थिर नाम-कर्म' है।

32. शुभ—शरीर के अवयवों को सुंदर बनाने वाला कर्म 'शुभ नाम-कर्म' है।

33. अशुभ—'अशुभ नाम-कर्म' असुंदर शरीर प्राप्त कराता है।

34. सुभग—सौभाग्य को उत्पन्न करने वाला कर्म 'सुभग नाम-कर्म' है। अथवा जिस कर्म के उदय से सबको प्रीति कराने वाला शरीर प्राप्त होता है। उसे 'सुभग नाम-कर्म' कहते हैं।

35. दुर्भग—गुण युक्त होने पर भी दुर्भग नाम-कर्म' अन्य प्राणियों को अप्रीति उत्पन्न कराने वाला शरीर प्रदान करता हैं

36. सुस्वर—प्रिय स्वर उत्पन्न कराने वाला कर्म 'सुस्वर नाम-कर्म' हैं

37. दुःस्वर—'दुःस्वर नाम-कर्म' के उदय से कर्ण-कटु, कर्कश स्वर होता है।

38. आदेय—इस कर्म के उदय से जीव बहुमान्य एवं आदरणीय होता है। प्रभायुक्त शरीर भी 'आदेय नाम-कर्म' की देन है।

39. अनादेय—'अनादेय नाम-कर्म' के उदय से अच्छा कार्य करने पर भी गौरव प्राप्त नहीं होता। यह निषभ शरीर का कारण भी है।

40. यशःकीर्ति—जिस कर्म के उदय से लोक में यश, कीर्ति, ख्याति और प्रतिष्ठा मिलती है। वह 'यशःकीर्ति नाम-कर्म' है।

41. अयशः कीर्ति—इस कर्म के उदय से अपयश और अप्रतिष्ठा मिलती है।

42. तीर्थंकर—'तीर्थंकर नाम-कर्म' त्रिलोक पूज्य एवं धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक बनाता है। इस प्रकार नाम कर्म के मूल बयालीस भेद तथा उत्तर भेदों को मिलने पर कुल 93 (तेरानवें) भेद हो जाते हैं। इनमें कुछ शुभ और कुछ अशुभ होते हैं।

नाम कर्म के बंध का कारण—

मन-वचन-काय की कुटिलता अर्थात् सोचना कुछ, बोलना कुछ और करना कुछ, इसी प्रकार अन्यों से कुटिल प्रवृत्ति करना, मिथ्या दर्शन, चुगलखोरी, चित्त की अस्थिरता, परवंचन की प्रवृत्ति, झूठे माप-तौल आदि रखने से अशुभ

नाम-कर्म का बंध होता है।

इसके विपरीत मन-वचन-काय की सरलता, चुगलखोरी का त्याग, सम्यक् दर्शन, चित्त की स्थिरता, आदि शुभ नाम-कर्म के बंध का कारण होता है। तीर्थंकर प्रकृति नाम-कर्म की शुभतम प्रकृति है, इसका बंध भी शुभतम परिणामों से होता है। तीर्थंकर प्रकृति के बंध के सोलह कारण बताए गए हैं।

सम्यक्दर्शन की विशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, शील और व्रतों का निर्दोष परिपालन, निरंतर ज्ञान साधना, मोक्ष की ओर प्रवृत्ति (संसार से सतत् भीति), शक्ति अनुसार तप और त्याग, भले प्रकार की समाधि, साधुजनों की सेवा/सत्कार, पूज्य आचार्य, बहुश्रुत व शास्त्र के प्रति भक्ति, आवश्यक धर्म कार्यों का निरंतर पालन, धार्मिक प्रोत्साहन व धर्मीजनों के प्रति वात्सल्य यह सब तीर्थंकर प्रकृति बंध के कारण हैं।

7. गोत्र कर्म—

लोक-व्यवहार संबंधी आचरण को गोत्र माना गया है। जिस कुल में लोक मान्य आचरण की परम्परा है। उसे उच्च 'गोत्र' कहते हैं तथा जिसमें लोकनिन्दित आचरण की परम्परा है, उसे नीच गोत्र नाम दिया गया है। इन कुलों में जन्म दिलाने वाला कर्म 'गोत्र-कर्म' कहलाता है।

इस कर्म की तुलना कुम्हार से की गयी है। जैसे-कुम्हार अनेक प्रकार के घड़ों का निर्माण करता है। उनमें से कितने ही ऐसे होते हैं, जिन्हें लोक कलश बनाकर चंदन, अक्षत आदि मंगल द्रव्यों से अलंकृत करते हैं और कितने ही ऐसे होते हैं जिनमें मदिरा आदि निन्द्य पदार्थ रखे जाते हैं, इसलिए निम्न माने जाते हैं। इसी प्रकार गोत्र कर्म के उदय से जीव कुलीन/पूज्य/अपूज्य/अकुलीन घरों में उत्पन्न होता है। गोत्र कर्म दो प्रकार का होता है-1. उच्च गोत्र तथा 2. नीच गोत्र।

गोत्र कर्म के बंध का कारण-परनिंदा, आत्मप्रशंसा, दूसरे के सद्भूत गुणों का आच्छादन तथा अपने असद्भूत गुणों को प्रकट करना- यह सब नीच गोत्र के बंध का कारण है। इसके विपरीत स्व की निंदा, पर की प्रशंसा, अपने गुणों का आच्छादन, पर के गुणों का उद्भावन, गुणाधिकों के प्रति विनम्रता तथा ज्ञानादि गुणों में श्रेष्ठ रहते हुए भी उसका अभिमान न करना ये सब उच्च गोत्र के बंध का कारण है।

8. अन्तराय कर्म—

जो कर्म विघ्न डालता है, उसे अंतराय-कर्म कहते हैं। इस कर्म के कारण आत्मशक्ति में अवरोध उत्पन्न होता है। अनुकूल साधनों और आंतरिक इच्छा के होने पर भी जीव इस कर्म के कारण अपनी मनोभावना को पूर्ण नहीं कर पाता।

इस कर्म को भण्डारी से उपमित किया है। जिस प्रकार किसी दीन-दुःखी को देखकर दया से द्रवीभूत राजा भण्डारी को दान देने का आदेश करता है, फिर भी भण्डारी बीच में अवरोधक बन जाता है। वैसे ही यह अंतराय-कर्म जीव के दान-लाभादिक कार्यों में अवरोध उत्पन्न करता है। इसके पाँच भेद हैं—

1. जिस कर्म के उदय से दान देने की अनुकूल सामग्री और पात्र की उपस्थिति में भी दान देने की भावना न हो, वह 'दानांतराय कर्म' है।

2. जिस कर्म के उदय से बुद्धिपूर्वक श्रम करने पर भी लाभ होने में बाधा हो वह 'लाभांतराय कर्म' है।

3. जिसके उदय से प्राप्त भोग्य वस्तु का भी भोग न किया जा सके, वह 'भोगांतराय कर्म' है।

4. जिसके उदय से प्राप्त उपभोग्य वस्तु का उपभोग न किया जा सके, वह 'उपभोगांतराय कर्म' है।

5. जिसके उदय से सामर्थ्य होते हुए भी कार्यों के प्रति उत्साह न हो, उसे 'वीर्यांतराय कर्म' कहते हैं।

अंतराय कर्म के बंध के कारण–दानादि में बाधा उपस्थित करने से, जिन पूजा का निषेध करने से, पापों में रत रहने से, मोक्ष–मार्ग के दोष बताकर विघ्न डालने से अंतराय कर्म का बंध होता है।

2.3 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1–कर्म के मूल भेद कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 2–ज्ञानावरणीय कर्म के कौन–कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 3–नामकर्म किसे कहते हैं ? इसके मुख्य और उपभेद कितने होते हैं ?

प्रश्न 4–अन्तराय कर्म से क्या आशय है ? इसके कौन–कौन से भेद हैं ?

पाठ-3–कर्म की विविध अवस्थाएँ

यद्यपि यह सत्य है कि स्वकृत कर्मों से बंधा जीव संसार में परिभ्रमण करता है। तथापि यह जरूरी नहीं है कि वह उन्हें जिस रूप में बांधे उसी रूप में भोगे। जीव के शुभाशुभ भावों की अपेक्षा उत्पन्न होने वाली कर्मों की विविध अवस्थाओं को 'करण' कहते हैं। करण दस होते हैं—

3.1 बंध—

कर्म परमाणुओं का आत्मा के साथ बंधना अर्थात् दूध और पानी की तरह एकमेक हो जाना बंध हैं। बंध के बाद ही अन्य अवस्थाएँ प्रारंभ होती हैं। यह चार प्रकार का होता है—1. प्रकृति 2. प्रदेश 3. स्थिति 4. अनुभाग

3.2 सत्ता—

कर्म बंधने के तत्काल बाद अपना फल नहीं देते। बंधन के दूसरे समय से लेकर फल देने के पहले समय तक कर्म आत्मा में अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। कर्मों की इस अवस्था को 'सत्ता' कहते हैं। जैसे–शराब पीते ही वह तुरंत अपना असर नहीं देती, किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसका प्रभाव दिखता है। वैसे ही कर्म भी बंधने के बाद कुछ समय तक सत्ता में रहता है। इस काल को जैन कर्मशास्त्र में 'आबाधा काल' कहते हैं। साधारणतया कर्म का आबाधा काल उसकी स्थिति के अनुसार होता है। जैसे–जो शराब जितनी अधिक दिनों तक सड़ाकर बनती है, वह उतनी ही अधिक नशीली होती है, उसी प्रकार जो कर्म जितने अधिक समय तक ठहरता है उसकी आबाधा भी उतनी ही अधिक होती है। प्रत्येक कर्मों की अपनी–अपनी स्थिति के अनुरूप आबाधा होती है। जैन कर्मसिद्धांत में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

3.3 उदय—

कर्मों के फल देने को 'उदय' कहते हैं। उदय में आने वाले कर्म पुद्‌गल अपनी–अपनी प्रकृति के अनुसार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। कर्म–पुद्‌गल का नाश या क्षय 'निर्जरा' कहलाता है।

कर्मों का उदय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादि की अपेक्षा से ही होता है। उदय क्रम से परिपाक काल को प्राप्त होने वाला 'सविपाक' उदय कहलाता है। विपाक काल से पहले ही तपादि विशिष्ट क्रियाओं द्वारा कर्मों का फलोन्मुख दशा में आना 'अविपाक–उदय' कहलाता है।

स्वमुखोदय और परमुखोदय की अपेक्षा, इसके दो भेद किए गए हैं, कर्म कभी–कभी अपने ही रूप में फल देते हैं तथा कभी–कभी अन्य प्रकृति रूप भी फल देते हैं। जो प्रकृति अपने ही रूप में उदय में आती है, उसे 'स्वमुखोदय' तथा अन्य प्रकृति रूप से उदय में आने को 'परमुखोदय' कहते हैं। जैसे—क्रोध का क्रोध रूप से उदय में आना स्वमुखोदय है, तथा उसका मानादिक में परिणत हो जाना 'परमुखोदय' है।

3.4 उत्कर्षण—

पहले से बँधे हुए कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि हो जाने का नाम उत्कर्षण है। हमारी परम्परा में माना गया हैकि जिस कर्म का या जिस कर्म–प्रकृति का जब बंध होता है, अर्थात् बंध के बिना उत्कर्षण नहीं होता, भाव यह है कि कर्म के बंधन के बाद ही उदय से पहले उसका उत्कर्षण भी होता है या हो सकता है, बंध के बिना उत्कर्षण नहीं और बंध के बिना अपकर्षण भी नहीं। उत्कर्षण में स्थिति और अनुभाग–बंध को बढ़ाये जाने की बात है। जबकि अपकर्षण में उसके घटाये जाने की बात है। नया बंध करते समय आत्मा अपने पूर्वबद्ध कर्मों की काल–मर्यादा और तीव्रता को बढ़ा भी सकता है। काल–मर्यादा और तीव्रता/सघनता को बढ़ाने की प्रक्रिया का नाम ही उत्कर्षण है।

3.5 अपकर्षण —

पहले से बंधे कर्म की स्थिति और अनुभाग में हानि का होना अपकर्षण है। सामान्यत: किसी भी छात्र को कहानी करने में दश वर्ष लगते हैं पर विशेष अध्ययन से दसवीं कहा उसने ८ वर्ष में या ९ वर्ष में ही पास तो यह ८ वर्ष या ९ वर्ष में पास ही क्रिया को ही जैन सिद्धान्त में अपकर्षण की प्रक्रिया माना गया। इस प्रक्रिया से कर्मों की काल-मर्यादा और तीव्रता/सघनता को कम किया जाता है या कम किया जा सकता है।

कर्मों के बंधने के बाद बंधे हुए कर्मों में प्राय: दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं। अशुभ कर्मों का बंध करने वाला जीव, यदि शुभ भाव करता है तो पूर्व-बद्ध कर्मों की स्थिति और अनुभाग अर्थात् फलदान शक्ति, उसके प्रभाव से कम हो जाती है, और यदि अशुभ कर्म का बंध करने के बाद और भी अधिक कलुषित हो जाता है, तो बुरे भावों के प्रभाव से, उनकी स्थिति तथा अनुभाग में भी वृद्धि हो जाती है। इस उत्कर्षण और अपकर्षण के कारण कोई कर्म शीघ्र फल देते हैं तथा कुछ कर्म विलंब से। किसी कर्म का फल तीव्र होता है तथा किसी का मंद। उत्कर्षण और अपकर्षण की विचारधारा यह सिद्ध करती है कि कर्म का फल सर्वथा नियत नहीं है। जीव के शुभाशुभ परिणामानुसार उसमें परिवर्तन संभव है।

3.6 उदीरणा —

नियत समय के पूर्व कर्मों का उदय में आना 'उदीरणा' कहलाता है। जैसे, आमादि फल प्रयत्न विशेष से समय से पूर्व भी पका लिये जाते हैं। वैसे ही, विशेष साधन के बल पर, कर्मों के अपकर्षण द्वारा स्थिति कम करके नियत समय से पूर्व ही भोगकर क्षय किया जा सकता है। सामान्यत: यह नियम है जिस कर्म का उदय होता है, उसी के सजातीय कर्म की उदीरणा होती है।

3.7 संक्रमण —

'संक्रमण' का अर्थ होता है — 'परिवर्तन'। एक कर्म की स्थिति आदि का दूसरे सजातीय कर्म में परिवर्तन हो जाने को 'संक्रमण' कहते हैं। यह संक्रमण किसी भी एक मूल-प्रकृति की उत्तर-प्रकृतियों में ही होता है। मूल-प्रकृतियों में परस्पर संक्रमण नहीं होता, अर्थात् ज्ञानावरण बदलकर दर्शनावरण नहीं हो सकता। इसी प्रकार अन्य कर्म भी अपने मूलरूप से परिवर्तित नहीं होता है। कर्मों का अपने सजातीय प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है, विजातीय में नहीं। इस नियम के अपवाद में आचार्यों ने बताया है कि चारों आयु तथा दर्शन मोहनीय और चरित्र-मोहनीय परस्पर संक्रमण को प्राप्त नहीं होते। प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग के भेद से यह संक्रमण चार प्रकार का होता है।

3.8 उपशम —

कर्मों के विद्यमान रहते हुए भी, उदय में आने से रोक देना, 'उपशम' कहलाता है। कर्मों की इस अवस्था में उदय और उदीरणा संभव नहीं होती। इस अवस्था में अपकर्षण, उत्कर्षण और संक्रमण की संभावना रहती है। जिस प्रकार राख में ढंकी अग्नि आवृत दशा में अपना विशेष कार्य नहीं कर सकती, किन्तु आवरण के हटते ही पुन: प्रज्वलित होकर अपने कार्य करने में समर्थ हो जाती है, उसी प्रकार उपशमावस्था को प्राप्त, कर्म-पुद्‍गल भी अपना प्रभाव नहीं दिखा पाता। इस अवस्था के समाप्त होते ही वह अपना कार्य प्रारंभ कर देता है अर्थात् उदय में आकर अपना फल प्रदान करने लगता है।

3.9 निधत्ति —

कर्म की वह अवस्था 'निधत्ति' कहलाती है, जिसमें उदीरणा और संक्रमण का सर्वथा अभाव रहता है। इस अवस्था

में अपकर्षण-उत्कर्षण की संभावना बनी रहती है।

3.10 निकाचित—

कर्म की उस अवस्था का नाम 'निकाचित' है, जिसमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा- ये चारों अवस्थाएँ असंभव होती हैं। कर्मों की इस अवस्था को 'नियति' कहा जा सकता है। क्योंकि इस अवस्था में कर्म का फल उसी रूप में अवश्य भोगना पड़ता है, जिस रूप में बंध को प्राप्त हुआ था। इस अवस्था में इच्छा स्वातंत्र्य या पुरुषार्थ का सर्वथा अभाव रहता है। किसी विशेष परिस्थिति में ही कर्मों की यह अवस्था होती है।

कर्मों के इन दस कारणों से स्पष्ट है कि जैन कर्म सिद्धांत नियतिवादी नहीं है और सर्वथा स्वच्छंदतावादी भी नहीं है। जीव के प्रत्येक कर्म के, द्वारा किसी न किसी प्रकार की ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है, जो अपना कुछ न कुछ प्रभाव दिखाए बिना नहीं रहती और साथ ही जीव स्वातंत्र्य भी कभी इस प्रकार अवरुद्ध व कुंठित नहीं होता कि वह अपने कर्मों की दशाओं में किसी भी प्रकार का सुधार करने में सर्वथा असमर्थ हो जाए। इस प्रकार जैन सिद्धांत में मनुष्यों के अपने कर्मों के फल भोग तथा पुरुषार्थ द्वारा उसको बदल डालने की शक्ति-इन दोनों में भली-भांति समन्वय स्थापित किया गया है।

3.11 कर्मों की स्थिति—

जैन कर्म सिद्धांतानुसार प्रत्येक कर्म जीवात्मा के साथ एक निश्चित अवधि तक बंधा रहता है। तदुपरांत वह पेड़ में पके फल की तरह फल देकर जीव से अलग हो जाता है। जब तक कर्म अपना फल देने की सामर्थ्य रखते हैं, तब तक की काल मर्यादा ही उनकी 'स्थिति' कहलाता है। जैन कर्मसिद्धान्त ग्रंथों में विभिन्न कर्मों की पृथक-पृथक स्थितियाँ (उदय में आने योग्य काल बताई गयी हैं।

वे निम्न प्रकार हैं—

क्रमांक	कर्म का नाम	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
1.	ज्ञानावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
2.	दर्शनावरणी	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
3.	वेदनीय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	बारह-मुहूर्त
4.	मोहनीय	सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
5.	आयु	तैंतीस सागरोपम	अंतर्मुहूर्त
6.	नाम	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त
7.	गोत्र	बीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त
8.	अंतराय	तीस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम	आठ मुहूर्त

सागरोपम आदि उपमा काल हैं। इनके स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए जैन कर्मसिद्धान्त ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए। जिसमें काल-विषयक मान्यता का भी ज्ञान हो सकेगा।

3.12 अनुभाग—

कर्मों के फलदान शक्ति को अनुभाग कहते हैं। प्रत्येक कर्मों का फलदान एक-सा नहीं रहता। जीव के शुभाशुभ भावों के अनुसार बंधने वाले प्रत्येक कर्मों का अनुभाग, अपने-अपने नाम के अनुरूप तरतमता लिये रहता है। कुछ कर्मों का अनुभाग अत्यंत तीव्र होता है कुछ का मंद तो कुछ का मध्यम। कर्मों का अनुभाग कषायों की तीव्रता व मंदता पर निर्भर रहता है। कषायों की तीव्रता होने पर अशुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है, शुभ कर्मों का मंद तथा कषायों

की मंदता होने पर शुभ कर्मों का अनुभाग अधिक होता है तथा अशुभ कर्मों का मंद। तात्पर्य यह है कि जो प्राणी जितना अधिक कषायों की तीव्रता से युक्त होगा उसके अशुभ कर्म उतने ही सबल होंगे, तथा शुभ कर्म उतने ही निर्बल होंगे। जो प्राणी जितना अधिक कषाय मुक्त होगा उसके शुभ कर्म उतने ही प्रबल होंगे एवं पाप कर्म उतने ही दुर्बल होंगे।

3.13 कर्मों के प्रदेश—

जीव के मन, वचन और काय रूप योगों के निमित्त से जीवों के साथ बंधने वाले कर्म परमाणु 'कर्मों के प्रदेश' कहलाते हैं। जीव के भावों का आश्रय पाकर, एक साथ बंधने वाले सभी कर्मों के प्रदेश समान नहीं होते। उसका भी एक निश्चित नियम है। समस्त कर्म प्रदेश अपने एक निश्चित अनुपात में विविध कर्मों में विभक्त होकर आत्मा के साथ बद्ध हो जाते हैं। उक्त क्रमानुसार आयु कर्म को सबसे कम भाग (हिस्सा) मिलता है। नाम कर्म के प्रदेश उससे कुछ अधिक होते हैं। गोत्र कर्म की मात्रा नाम-कर्म के बराबर ही है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अंतराय इन तीन कर्मों को कुछ अधिक प्रदेश मिलते हैं। तीनों का योग परस्पर समान होता है। इससे भी अधिक भाग मोहनीय कर्म को जाता है तथा सबसे अधिक कर्म प्रदेश वेदनीय कर्म को मिलता है। यह मूल कर्मों का विभाजन है। इन प्रदेशों का पुनः उत्तर प्रकृतियों में विभाजन होता है। प्रत्येक कर्मों के प्रदेशों में न्यूनता व अधिकता का यही आधार है।

3.14 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-कर्म की दस विविध अवस्थाओं के नाम बताइये ?

प्रश्न 2-उत्कर्षण और अपकर्षण से क्या आशय है ?

प्रश्न 3-संक्रमण किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-आयु कर्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कितनी है ?

पाठ-4-कर्म की फलदान प्रक्रिया और ईश्वर

4.1 कर्म स्वरूप के विवेचन के बाद यह सहज ही जिज्ञासा हो जाती है कि शुभाशुभ कर्मों का फल किस प्रकार मिलता है? क्या कर्म अपना फल स्वयं देते हैं अथवा अपने फलदान के लिए किसी अचिन्त्य शक्ति की अपेक्षा रखते हैं? उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर अत्यंत जटिल तथा दार्शनिक गुत्थियों में उलझा हुआ है, साथ ही विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, किन्तु विस्तार भय से सिर्फ जैन दर्शन के अनुसार कर्म की फलदान प्रक्रिया पर विचार करते हैं।

4.2 जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त—

जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार कर्म अपना फल देने में स्वतंत्र हैं, परतंत्र नहीं। इस मान्यता के अनुसार बंधे हुए कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर स्वयं उदयावस्था में आकर अपना फल प्रदान करते हैं। कर्मों के फलदान का अर्थ 'विपाक' है। 'विपाक' यानि 'विशिष्ट पाक' जो कि बाह्य परिस्थितियों एवं आंतरिक शक्तियों की अपेक्षा रखकर अपना फल देते हैं। इसे दूसरे शब्दों में कहें कि द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा रखकर ही कर्म अपना फल देते हैं।

कर्मों का फल कषायों की तीव्रता एवं मंदता पर निर्भर करता है। जिस प्रकार भोजन शीघ्र न पचकर, जठराग्नि की तीव्रता-मंदता के अनुसार पचता है, उसी प्रकार कषायों की तीव्रता व मंदता के अनुरूप ही शुभाशुभ कर्मों का फल मिलता है। तीव्र कषायों के साथ बंधे हुए अशुभ कर्मों का फल तीव्र तथा अधिक मिलता है। मंद कषायों के साथ बंधने वाले कर्मों का फल मंद और अल्प मिलता है।

शुभाशुभ परिणामों के प्रकर्षाप्रकर्ष के अनुरूप ही कर्मों का शुभाशुभ फल मिलता है।

यह कोई अनिवार्य नहीं कि कर्म अपनी स्थिति पूर्ण होने पर ही फल दे। जिस प्रकार आमादि फलों को विशेष प्रकार के साधनों द्वारा पकाकर समय पूर्व ही रसदार बना लेते हैं, उसी प्रकार स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही विशेष तपश्चरणादि द्वारा, कर्मों को पका देने पर वे अपना फल असमय में भी देते हैं। इसी प्रकार कर्मफल 'यथाकाल' और 'अयथाकाल' दो प्रकार का होता है।

एक समय में बंध हुए कर्म एक साथ अपना फल नहीं देते बल्कि अपने-अपने उदय क्रमानुसार ही अपना फल प्रदान करते हैं।

यह कोई जरूरी नहीं कि कर्म अपना फल देकर ही उदय में आएं, क्योंकि आंतरिक शक्तियों और बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल न रहने पर कर्म अपना फल दिए बिना भी (अन्य कर्म-रूप परिणत होकर) आत्म प्रदेशों से अलग हो सकते हैं।

सभी मूल कर्म अपने-अपने स्वभावानुसार ही अपना फल देते हैं। उनमें परस्पर कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे, ज्ञानावरणी कर्म का फल ज्ञान को कुंठित व अवरूद्ध करने का मिलेगा। दर्शनादि अन्य शक्तियों में बाधा पहुँचाने में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं रहता।

कर्म अपने अवान्तर भेदों में परिवर्तित हो सकते है। जैसे-साता वेदनीय कर्म असाता वेदनीय रूप फल दे सकता है अथवा शुभ नाम-कर्म अशुभ नाम-कर्म रूप फल दे सकता है, किन्तु चारों आयु कर्म, दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय इसके अपवाद हैं। वे अपना फल स्वमुख से ही देते हैं अर्थात् एक आयु दूसरी आयु रूप नहीं हो सकती। इसी प्रकार दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय परस्पर बदलकर अपना फल प्रदान नहीं कर सकते।

कर्म फल देने के तत्काल बाद आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, वे पेड़ से गिरे फल की तरह पुनः फल नहीं दे सकते। कर्म फल देने के बाद उनकी 'निर्जरा' या 'क्षय' हो जाती है। क्षय होने का तात्पर्य उनका सर्वथा विनष्ट होने से नहीं है, वरन् उनके कर्मरूप पर्याय को छोड़कर अन्य अकर्मरूप पर्यायों में परिवर्तित हो जाने से है।

ये है संक्षेप में, जैन कर्म सिद्धांत। ''जैसी करनी-वैसी भरनी'' या ''जो जस करहि, सो तस फल चाखा'' आदि

कहावतों का प्रमुख आधार यही है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि इस जगत में जीवों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, सभी सदैव नियम से अपने-अपने कर्मोदय से होते हैं। दूसरा पुरुष दूसरे के जीवन मरण सुख-दुःख को करता है ऐसा मानना अज्ञान है।'' यदि कर्मों का कर्ता कोई हो और फल अन्य किसी को मिले तो स्वयं कृतकर्म और उन पर किया गया उपकार निरर्थक सिद्ध होगा।

अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ में लिखा है—

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ, फल निश्चय ही वो देते।।
करें आप फल देय अन्य तो, स्वयं किये निष्फल होते।।

जैनदर्शन का कर्मवाद पुरुषार्थ प्रेरक है तथा भारतीय दर्शन की आधार शिला है।

कुछ दार्शनिकों का मानना है कि कर्म अपना फल स्वयं नहीं देते, क्योंकि वे अचेतन हैं। अपना फल देने के लिए कर्म अचिन्त्य शक्ति के अधीन हैं। जिस प्रकार निष्पक्ष और स्वतंत्र न्यायाधीश निर्णय करके दोषी को दंड देते हैं, उसी प्रकार कर्मों का फल देने वाला सर्व-शक्तिमान ईश्वर है। वही जीवों को उनके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल प्रदान करता है। वे कहते हैं कि ईश्वर द्वार प्रेरित जीव स्वर्ग या नरक जाता है। ईश्वर की सहायता के बिना कोई भी जीव सुख-दुःख पाने में समर्थ नहीं है। अन्य दर्शनों में निहित कर्मवाद का नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

4.3 बौद्ध दर्शन एवं चार्वाक दर्शन में कर्मवाद —

बौद्धदर्शन में आर्य अष्टांगिक मार्ग को स्वीकार करते हैं। जिसके घटक हैं सम्यक्ज्ञान, सम्यक्संकल्प, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव तथा सम्यक् व्यायाम। ये निश्चित रूप से व्यक्ति को सही प्रकार से कर्म करने की प्रेरणा देते हैं।

बौद्धदर्शन की मान्यता है कि निर्वाण प्राप्ति के बाद भी व्यक्ति को कार्यरत रहना चाहिए। उस अवस्था में उसके कार्य अपने लिये नहीं होते वे संसार की भलाई के लिए होते हैं। सर्वदुःख प्रशान्ति के लिए स्वयं बुद्ध ने बार-बार जन्म लिया। महामैत्री तथा महाकरुणा से आप्लावित हृदय वाला बौद्ध साधक अपनी युक्ति से अधिक सभी लोगों की परवाह करता है तथा जनकल्याण के लिए सदैव कार्यरत रहता है।

चार्वाक दर्शन में कर्मवाद—

चार्वाक मत वाले कर्मसिद्धान्त को नहीं मानते हैं।

4.4 सांख्य दर्शन में कर्मवाद—

सांख्य दर्शन पुरुष द्वारा कर्म करने के विधान को स्वीकार करता है। जीवन्मुक्त की अवस्था प्राप्त करने पर भी पुरुष को कर्मरत रहना ही पड़ता है। तत्त्वज्ञान के प्रभाव से अनारम्भ बीज तो समाप्त हो जाते हैं और क्रियमाण कर्म की भी उत्पत्ति नहीं होती, पर प्रारब्ध कर्म जिनका फल आरंभ हो चुका है, नष्ट नहीं होते। विदेह मुक्ति की दशा तक कर्म करना पुरुष की नियति है अतएव जीवन्मुक्ति की अवस्था में भी पुरुष को कर्म से विरत नहीं होना चाहिए।

वाचस्पति मिश्र : के अनुसार क्लेशरूपी जल से सिक्त बुद्धिरूपी भूमि में कर्मबीज के अंकुर होते हैं परन्तु तत्त्व ज्ञान रूप उपमा के कारण क्लेशरूपी जल के सूख जाने पर उस जमीन में क्या कभी कर्म बीज उत्पन्न हो सकते हैं अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

4.5 योगदर्शन में कर्मवाद—

पतंजलि ने योग शास्त्र में ईश्वर प्रणिधान को माना है। सभी कर्मों को ईश्वर के चरणों में अर्पित कर सदैव ईश्वर भावना में रत रहना प्रणिधान है।

4.6 न्याय दर्शन में कर्मवाद—

गौतम ने न्याय सूत्र में बारह भेद माने हैं जिनके नाम हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

4.7 वैशेषिक सूत्र में कर्मवाद—

न्याय की भांति वैशेषिक भी कर्म के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वैशेषिकों में सात पदार्थ माने जाते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव। ये कर्म के पाँच भेद मानते हैं, उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन।

4.8 मीमांसा दर्शन में कर्मवाद—

मीमांसा दर्शन में तो कर्मसंबंधी एक नवीन दृष्टिकोण पाया जाता है। प्रभाकर आठ पदार्थों की सत्ता मानते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतंत्रता, शक्ति, सादृश्य, संख्या। कुमारिलभट्ट द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य तथा अभाव इन पाँच पदार्थों को मानते हैं।

मीमांसक वैदिक कर्मकांड को मानते हैं पर कर्म तथा कर्मफल में अन्तराल रहता है। आज यज्ञ करने पर उसका स्वर्गरूपी फल तो अनेक वर्षों के बाद ही मिलता है। अन्तराल की व्याख्या में मीमांसक अपूर्व नामक पदार्थ मानते है। अपूर्व का अर्थ शुभ या अशुभ कर्म करने से उत्पन्न अदृष्ट शक्ति। यह शक्ति कर्म से उत्पन्न होती है और समय पर कर्मफल का निष्पादन करती है। यह मीमांसा दर्शन का दृढ़ मत है।

4.9 वेद तथा उपनिषद में कर्मवाद—

भारतीय चिन्तक अतीत काल से ही कर्मवाद का पोषक रहा है। वेदों में लिखा है कि-सोने वाला कलि है, निद्रा से उठने वाला द्वापर, उठकर खड़ा हो जाने वाला त्रेता तथा कर्मरत व्यक्ति कृत युग कहा जाता है। अतएव कर्मशील बनो। कर्म करने में आलस्य ठीक नहीं जो हो चुका है यह अतीत है उससे चिपके रहने में कोई सार नहीं है और जो आने वाला है वह आगामी भविष्य है उसका सपना देखते रहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भविष्य का क्या ठिकाना ? इसलिए वर्तमान पर भरोसा कर सामने वाले कर्म को सम्पादन करना बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण कर्म को इसी समय करने का परामर्श देता है।

वेदान्त शंकराचार्य का कर्म संबंधी विचार—

श्रुति, स्मृति द्वारा विहित कर्म करने की व्यवस्था शंकर को मान्य है। इनके अनुसार चित्त शुद्धि के लिए कर्म करना अति आवश्यक है। पर उन कर्मों के फल को ईश्वर को समर्पित करना चाहिए। ये कर्म के संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण तीन भेद मानते हैं। तत्त्वज्ञान द्वारा संचित कर्म फल का नाश, क्रियमाण कर्म का निरोध हो जाता है। पर प्रारब्ध कर्म की पूर्ति भोग द्वारा ही संभव है ये कर्म किसी स्वार्थ साधन की दृष्टि से नहीं वरन् निरासक्त भाव से किये जाते हैं।

4.10 श्रीमद् भगवद् गीता में कर्मवाद—

भगवद् गीता में कर्मवाद का गहरा विश्लेषण हुआ है। गीता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कर्मशील है। कर्म का विभाजन दो रूपों में मिलता है-प्रथम विभाजन के अनुसार कर्म, अकर्म तथा विकर्म।

गीता के अनुसार कर्म का संबंध प्रमुख रूप में व्यक्ति की मानसिकता से है, बाह्य संयम जो मन में नहीं उतरा, वह कर्म को समाप्त नहीं कर सकता है। जो व्यक्ति शरीर से कर्म करता है वे गर्हित कर्म विकर्म कहलाते हैं। अर्थात् कर्म से आशय वे क्रियाएं जो व्यक्ति को बांधती हैं। अकर्म का अर्थ मन का निरासक्त भाव जो कर्म करते हुए व्यक्ति में विद्यमान

रहता है और विकर्म का आशय वे कार्य जो शास्त्र द्वारा गलत माने गये हैं।

दूसरे विभाजन के अनुसार सात्विक, राजस और तामस। जो कर्म शास्त्र विधि से नियत और कर्तापने के अभिप्राय से रिक्त हैं, बिना फल की इच्छा के किये जाते हैं वे सात्विक कर्म कहलाते हैं। जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त फलेच्छ और अहंकार से किये जाते हैं वे राजस कर्म कहलाते हैं। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार किये बिना अज्ञानतावश किये जाते हैं, वह तामस कर्म कहलाते हैं।

जैन दर्शन के अनुसार कर्म अपना फल स्वयं प्रदान करते हैं। उसके लिए किसी अन्य, ईश्वर जैसे न्यायाधीश की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ईश्वर तो सुखादि अंनत चतुष्टयों से युक्त और कृत्य-कृत्य होता है। वह हमारे शुभाशुभ कर्मों में हस्तक्षेप क्यों करेगा।

परम वीतरागी, महान करुणावान ईश्वर किसी भी कर्मों का फल तीव्र अशुभ तथा किसी को शुभ प्रदान नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसके पक्षपाती और क्रूर-परिणामी होने का प्रसंग आता है। यदि कहा जाए कि ईश्वर अपनी इच्छा से फल नहीं देता अपितु कर्मों के अनुसार ही फल देता है। तब जैन दार्शनिकों का कहना है कि यदि ऐसा है, तो इस विषय में ईश्वर जैसे महान कारुणिक का नाम न घसीटकर कर्मों को ही अपने स्थान पर बिठा लेना चाहिए। ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने संबंधी मान्यता अनेक दृष्टियों से दूषित है। उनमें से कुछ निम्न हैं-

1. यदि ईश्वर जीवों को कर्म-फल प्रदान करने के लिए पाप-पुण्य के अनुसार सृष्टि करता है, तो ईश्वर को स्वतंत्र कहना व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि ईश्वर कर्म फल देने में अदृष्ट की सहायता लेता है। अतः जीवों को अपने अदृष्ट के उदय से ही सुख-दुःख और साधन उपलब्ध होते हैं। इसलिए इस विषय में ईश्वरेच्छा व्यर्थ है।

2. अदृष्ट के अचेतन होने से वह किसी बुद्धिमान की प्रेरणा से ही फल दे सकता है। यह कथन भी ठीक नहीं है, अन्यथा हम लोगों की प्रेरणा से भी अदृष्ट को फल देना चाहिए।

3. ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने पर उसे कुंभकार की तरह कर्त्ता मानना पडेगा, कुंभकार शरीरी है और ईश्वर अशरीरी। अतः मुक्तजीव की तरह अशरीरी ईश्वर कर्मों का फल कैसे दे सकता है।

4. ईश्वर को कर्मों का फलदाता मानने पर किसी भी निंदनीय कार्य का दंड किसी भी जीव को नहीं मिलना चाहिए क्योंकि उसमें उनका कोई दोष नहीं हैं, वे तो ईश्वर से प्रेरित होकर ही उक्त कृत्यों में प्रवृत्त होते हैं। मगर जीवों को हत्या आदि अपराध करने पर दंड मिलता है। इससे सिद्ध है कि ईश्वर शुभ-अशुभ कर्मों का फलदाता नहीं है।

5. ईश्वर को पूर्व कृत शुभाशुभ कर्मों का फलदाता मानने पर जीव द्वारा किए गए सभी कर्म व्यर्थ हो जायेंगे।

अतः ईश्वर को कर्मों का फलदाता न मानकर उन्हें अपने फल देने से स्वतंत्र मानना ही युक्ति-युक्त है। तभी पूर्ण कृत्य-कृत्य ईश्वर-कर्त्तृत्वादि दोषों से बच सकता है।

4.11 निष्कर्ष—

भारतीय संस्कृति तथा भारतीय दर्शन दोनों ही विचारशील कर्मवाद की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं। जैनदर्शन में इसका बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अध्यात्म और यथार्थ, निवृत्ति तथा प्रवृत्ति, व्यक्ति एवं समाज, वर्तमान जन्म तथा भूतपूर्व एवं आगामी जन्म सभी में एक मधुर समन्वय भारतीय कर्मवाद की विलक्षण विशेषता है। गीता में कर्म ही व्यक्ति का अधिकार क्षेत्र है फलेच्छा नहीं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है—

कर्मप्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहिं सो तस फल चाखा।।

जीवन रूपी खेल के ताश हमें दिये गये हैं, हमें उन्हें चुनना नहीं हैं। वे हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार हैं। पर हम अपनी इच्छानुसार उसका उपयोग कर सकते हैं। जो खेल चाहें खेल सकते हैं और खेलते हुए जीत भी सकते हैं और हार भी सकते हैं। यही स्वतंत्रता है। यही कर्मवाद की अनुपम विशेषता है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने लिखा है कि—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय,
कर्मोदयान्मरण जीवित दुःख सौख्यम्।
अज्ञान मे तदिह यत्तु परः परस्य,
कुर्यात् पुमान् मरण जीवित दुःख सौख्यम्।।

(आ. अमृतचन्द्रसूरिः समयसारकलश)

इस जगत में जीवों के जन्म-मरण, सुख-दुःख, सभी सदैव नियम से अपने-अपने कर्मोदय से होते हैं। दूसरा पुरुष दूसरे के जीवन-मरण, सुख-दुःख को करता है ऐसा मानना अज्ञान है। यदि कर्मों का कर्ता कोई हो और फल अन्य किसी को मिले तो स्वयं कृतकर्म और उन पर किया गया उपकार निरर्थक सिद्ध होगा। अमितगति आचार्य ने सामायिक पाठ में लिखा है—

स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा फलं तदीयं लभते शुभाशुभं,
परेणदत्तं यदि लभ्यते स्फुटं स्वयं कृतं कर्म निरर्थकं तदा।
निजार्जितं कर्म विहाय देहिनो न कोऽपि कस्यापि ददाति किंचन,
विचार यन्नेव मनन्य मानसः परो ददातीति विमुंचशेमुषीम्।।

स्वयं किये जो कर्म शुभाशुभ,
फल निश्चय ही वो देते।।
करें आप फल देय अन्य तो,
स्वयं किये निष्फल होते।।

जैनदर्शन का कर्मवाद पुरुषार्थ प्रेरक है तथा भारतीय दर्शन की आधार शिला है।

4.12 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-जैन दर्शन के अनुसार कर्म फल की क्या व्यवस्था है ?

प्रश्न 2-बौद्ध दर्शन में कर्मवाद की क्या मान्यता है ?

प्रश्न 3-श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार कर्म की फलदान प्रक्रिया का वर्णन करिए ?

पाठ-5—कर्म मुक्ति के उपाय

जीव अपने मोह और अज्ञान के कारण निरंतर कर्मों का आस्रव और बंध करता आ रहा है। आखिर कर्म बंध के इस अनंत प्रवाह का कोई अंत भी है या नहीं? क्या बंध की यह परम्परा ऐसे ही चलती रहेगी? या उससे बचने का कोई उपाय भी है? इसका एक ही उपाय है वह है संवर। संवर का अर्थ होता है-रोकना, बंद करना। यह आस्रव का विरोधी है। आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। आस्रव जहाँ कर्म मल के प्रवेश करने में नाली की तरह है तो संवर उस नाली के प्रवेश द्वार को बंद कर कर्म-प्रवाह को रोकता है। इससे नवीन कर्मों का आस्रव रुक जाता है, और सत्तागत संचित कर्मों की अभिवृद्धि पर अंकुश लग जाता है। इसलिए संवर को परम उपादेय माना गया है। संवर का व्युत्पत्ति अर्थ भी यही है। सम्यक्‌वरण को, संवरण को, संवर कहते हैं। जो अच्छी तरह से वरण करने योग्य हो, अपनाने योग्य हो, वह संवर है।

5.1 संवर का महत्त्व—

मोक्षमार्ग में संवर का महत्वपूर्ण स्थान है। संवर से ही मोक्षमार्ग के विकास का क्रम प्रारंभ होता है। जितना-जितना संवर होता है, उतना-उतना ही आत्मिक विकास होता जाता है। संवर सहित निर्जरा को ही मोक्षमार्ग का साधन कहा गया है।

मान लीजिये हमें एक ऐसी नाव पर यात्रा करना पड़ रहा है, जिसमें अनेक छिद्र हैं, जिसमें जल प्रविष्ट हो रहा है, नाव का भार बढ़ रहा है, उसका संतुलन खो रहा है, वैसी स्थिति में उस नाव को खाली करना तभी संभव होगा, जब हम उसके छिद्रों को बंद कर जल उलीचना प्रारंभ करें। उसके अभाव में निरंतर उलीचते रहने के बाद भी नाव को खाली कर पाना मुश्किल है क्योंकि जिस गति से हम पानी उलीच रहे हैं, वहीं दूसरी ओर, उसी गति से जल भी प्रविष्ट हो रहा है। वैसी स्थिति में नाव को खाली कर पाना असंभव है। हमारा सारा परिश्रम व्यर्थ सिद्ध होगा। परिणामतः उस नाव को डूबने से नहीं बचाया जा सकता। जीवात्मा भी एक नाव के समान है, जो संसार समुद्र में तैर रही है। हमारे शुभाशुभ भावों के छिदों से उसमें निरंतर कर्म-जल प्रवेश कर रहा है। उन छिद्रों को बंद करने पर ही हम अपनी नाव को उबार सकते हैं। निर्जरा के लिए संवर अनिवार्य है।

5.2 संवर के भेद—

द्रव्य और भाव की अपेक्षा संवर के दो भेद किए गए हैं। कर्म परमाणुओं के आगमन का निरोध हो जाना द्रव्य संवर है तथा आत्मा के जिन भावों से कर्मों का आगमन रुकता है, उन्हें भाव-संवर कहते हैं।

संवर के साधन—व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र ये सात संवर के साधन कहे गये हैं। इनके पालन से उत्पन्न आत्मिक विशुद्धि कर्म प्रवाह को रोक देती है। ये मूलतः सात हैं किन्तु अपने उत्तर भेदों को मिलाने पर कुल बासठ हो जाते हैं।

5.2.1 व्रत—पापों से विरत होने/दूर हटने को व्रत कहते हैं। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिर्व्रतम्।", हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच को पाप कहा गया है। इनसे विरत होना/इनका त्याग करना ही व्रत कहलाता है।

उक्त पाँच पापों का त्याग करने पर क्रमशः अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत होते हैं। इनके पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं तथा आंशिक त्याग को अणुव्रत कहते हैं। महाव्रतों का पालन साधुगण करते हैं तथा अणुव्रतों का पालन श्रावक/गृहस्थ जन-समाज में रहते हुए अपनी शक्ति के अनुसार करते हैं।

5.2.2 समिति—सम्यक्‌प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। समिति का अर्थ हुआ 'सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना' उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि क्रियाओं में होने वाली सावधानी ही समिति कहलाती है। समिति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा

गया है 'समेकी भावेनेति इति समिति' अर्थात् हम जिस क्रिया में संलग्न हैं उस क्रिया में एक भाव होना, पूरी तत्परता और एकाग्रता होना समिति है। अपनी प्रवृत्तिगत सावधानी या आत्म जागृति ही समिति है।

समितियाँ पाँच होती हैं-ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति और प्रतिष्ठापन समिति।

5.2.3 गुप्ति—पाप क्रियाओं से आत्मा को बचाना गुप्ति है। 'गुप्ति' का शाब्दिक अर्थ होता है 'गोपन करना/रक्षा करना' अर्थात् मन-वचन-काय की अकुशल प्रवृत्तियों से आत्मा की रक्षा करना 'गुप्ति' है। मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को उन्मार्ग से रोकना, यही गुप्ति शब्द का भावार्थ है। गुप्तियाँ तीन है-मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। मन का राग-द्वेष, क्रोधादि से अप्रभावित होना 'मनोगुप्ति' है। असत्य वाणी का निरोध करना अथवा मौन रहना 'वचन गुप्ति' है। तथा शरीर को वश में रखकर हिंसादिक क्रियाओं से दूर होना 'कायगुप्ति' है। यह गुप्ति ही संवर का साक्षात् कारण है। गुप्ति में असत् क्रिया के निरोध की मुख्यता रहती है तथा समिति में सत् क्रिया की प्रवृत्ति की मुख्यता रहती है। गुप्ति और समिति में यही अंतर है।

5.2.4 धर्म—जो व्यक्ति को दु:ख से मुक्त कराकर सुख तक पहुँचा दे, उसे धर्म कहते हैं। इस धर्म के दस लक्षण कहे गए हैं। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य। ये दसों धर्म आत्मा के भावनात्मक परिवर्तन से उत्पन्न विशुद्ध परिणाम हैं, जो आत्मा को अशुभ कर्मों के बंध से रोकने के कारण संवर के हेतु हैं। ख्याति, पूजा आदि से निरपेक्ष होने के कारण इनमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है।

इस प्रकार धर्म के यह दश लक्षण कोई बाहरी तत्त्व नहीं हैं वरन् विकारों के प्रभाव से प्रकट होने वाली आत्म शक्तियाँ ही हैं। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच ये आत्मा के अपने भाव हैं, जो क्रमशः क्रोधादिक विकारों के अभाव में प्रकट होते हैं तथा सत्य, संयम, तप और त्याग इनकी प्राप्ति के उपाय हैं, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य धर्मों का सार है।

अपनी आत्मा पर आस्था, अपने अविनश्वर वैभव का ज्ञान और अपने आत्म-ब्रह्म में रमण धर्म का सार तो इतना ही है। चारों गतियों के दु:खों से छुड़ाने की सामर्थ्य इसी में है।

5.2.5 अनुप्रेक्षा—किसी भी पदार्थ का बार-बार चिंतन अनुप्रेक्षा कहलाती है। विचारों का हमारे मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का जब हम अंतर-विश्लेषण करते हैं तो बहुत कुछ सार तत्त्व हमारे हाथ आ जाता है, हमारा मनोबल बढ़ता है, और हम सत्य पुरुषार्थ की ओर प्रयत्नशील होते हैं। संसार शरीर और भोगों के स्वरूप पर जब हम बार-बार विचार करते हैं, तो उनकी नि:सारता हमारी समझ में आने लगती है तथा सहज ही वैराग्य के अंकुर फूटने लगते हैं। इसलिए इन्हें वैराग्य की उत्पत्ति में माता की तरह कहा गया है। जैन दर्शन में बारह अनुप्रेक्षाएँ प्रसिद्ध हैं। इन्हें बारह भावना भी कहते हैं। वे हैं क्रमशः अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्म।

5.2.6 परिषह जय—अंगीकृत धर्म-मार्ग में स्थिर रहने के लिए तथा कर्म बंध के विनाश के लिए जो भी प्रतिकूल परिस्थितियाँ समतापूर्वक सहन करने योग्य हों, उन्हें परिषह जय कहते हैं। कहा भी है—

''मार्गाच्यवन निर्जरार्थं परिषोढव्याः परिषहाः''।

'परिषह' यह शब्द 'परि' और 'षह' इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। 'परि' अर्थात् 'सब और से' 'षहः' का अर्थ होता है 'सहना' यानि सब ओर से आए हुए कष्टों तथा दु:खों को समतापूर्वक सहन करना ही परिषह जय है। दिगम्बर साधु इसका पालन करते हैं। चूँकि वे प्रकृति में रहते हैं तथा सभी प्रकार के साधन व सुविधाओं से दूर रहते हैं, ऐसी स्थिति में समता भाव को नष्ट करने वाली अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है और वे ही स्थितियाँ उनके समत्व की परीक्षा के विशेष स्थल हैं। यद्यपि ऐसी परिस्थितियाँ अनगिनत हो सकती हैं, किन्तु उनमें बाईस का उल्लेख

मुख्य रूप से किया गया है, और सन्मार्ग से च्युत न होने के लिए तत्संबंधी क्लेशों पर विजय पाने का उपदेश दिया गया है। वे हैं क्रमशः-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डॉस-मच्छर, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध याचना, अलाभ, रोग, तृण-स्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

5.2.7 चारित्र—संवर का सातवां साधन चारित्र है। जिसके द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का निवारण होता है उसे चारित्र कहते हैं। एक परिभाषा के अनुसार, आत्मिक शुद्ध दशा में स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है। विशुद्धि की तरतमता की अपेक्षा, चारित्र पाँच प्रकार का कहा गया है-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात।

1. सामायिक—साम्यभाव में स्थित रहने के लिए समस्त पाप-प्रवृत्तियों का त्याग करना 'सामायिक' चारित्र है।

2. छेदोपस्थाना—गृहीत चारित्र में दोष लगने पर, उनका परिहार कर, मूल रूप से स्थापित होना 'छेदोपस्थापना' चारित्र है।

3. परिहारविशुद्धि—विशिष्ट तपश्चर्या से चारित्र को अधिक विशुद्ध करना 'परिहारविशुद्धि' कहलाती है। इस चारित्र के प्रकट होने पर इतना हल्कापन आ जाता है कि चलने-फिरने, उठने-बैठने रूपी सभी क्रियाओं को करने के बाद भी किसी जीव का घात नहीं हो पाता। 'परिहार' का अर्थ होता है 'हिंसादिक पापों से निवृत्ति'। इस विशुद्धि के बल से हिंसा का पूर्णतया परिहार हो जाता है। अतः इसकी परिहारविशुद्धि, यह सार्थक संज्ञा है। इस चारित्र का धनी साधु जल में पड़े कमल के पत्रों की तरह पापों से अलिप्त रहता है। यह किसी विशिष्ट साधना-सम्पन्न तपस्वी को ही प्राप्त होता है।

4. सूक्ष्मसाम्पराय—जिस साधक की समस्त कषायें नष्ट हो चुकी हैं, मात्र लोभ कषाय अति सूक्ष्म रूप से शेष रह गयी हैं तथा जो उसे भी क्षीण करने में तत्पर है, उसके चारित्र को 'सूक्ष्मसाम्पराय चारित्र' कहते हैं।

5. यथाख्यात-समस्त मोहनीय कर्म के उपशांत अथवा क्षीण हो जाने पर, प्रकट आत्मा के शांत-स्वरूप में रमण करने रूपी चारित्र 'यथाख्यात' चारित्र है। इसको वीतराग चारित्र या यथाख्यात चारित्र भी कहते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामायिक के अतिरिक्त शेष चारों चारित्र सामायिक रूप में ही हैं परन्तु आचार गुणों की विशेषता होने के कारण उन चार को अलग किया है।

इस प्रकार व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र रूप संवर के 62 भेद कहे गए हैं। वे साधु जीवन को लक्ष्य करके कहे गये हैं। इसका अर्थ यह है कि संवर की सिद्धि के लिए साधु धर्म अपेक्षित है। गृहस्थजन भी इनका यशाशक्ति पालन करके आंशिक संवर के अधिकारी बन सकते हैं।

5.3 निर्जरा—

निर्जरा का अर्थ—बद्ध कर्मों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है। सात तत्त्वों में संवर तत्त्व के बाद इसका स्थान है। संवर के द्वारा कर्मों का आस्रव रुकता है, तो निर्जरा द्वारा पूर्व-बद्ध अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होता है। जैसे जल के प्रवेश-द्वार को बंद कर देने पर सूर्य के प्रखर ताप से तालाब स्थित जल धीरे-धीरे सूख जाता है, वैसे ही कर्मों के आस्रव को संवर द्वारा रोक देने पर तप आदि साधनों से आत्मा के साथ पहले बांधे हुए कर्म धीरे-धीरे विलीन होते जाते हैं। इस दृष्टि से 'निर्जरा' का अर्थ हुआ, 'कर्म वर्गणाओं का आंशिक रूप से आत्मा से छूटना। आत्म-प्रदेशों से कर्मों का छूटना ही निर्जरा है। यह प्रक्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त हो जाती है, तब आत्मा में लगे सम्पूर्ण कर्मों का विलगाव हो जाता है और आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त कर लेता है। कर्मों का पूर्णतया विलग होना मोक्ष है।

निर्जरा शुद्धता की प्राप्ति के मार्ग में सीढ़ियों के समान है। जैसे कदम-दर-कदम सीढ़ियों पर चढ़कर मंजिल पर

पहुँचते हैं, वैसे ही क्रमशः निर्जरा कर मोक्ष-अवस्था प्राप्त की जाती है।

निर्जरा के भेद — निर्जरा दो प्रकार की होती है — द्रव्य निर्जरा और भाव निर्जरा। आत्मा के जिस निजी (शुद्ध) परिणमन से कर्म-पुद्गल विलग होते हैं, उस परिणाम/भाव की प्रक्रिया को भाव निर्जरा कहते हैं। दूसरे शब्दों में भाव निर्जरा से तात्पर्य आत्मा के निज में होने वाले उन वैचारिक परिवर्तनों से है जिनसे कर्म-पुद्गल आत्म-प्रदेशों को छोड़ने के लिए बाध्य होते हैं। द्रव्य निर्जरा से तात्पर्य है कर्म-पुद्गलों का आत्म प्रदेशों से विलग होने की प्रक्रिया जो कर्म-फल भोगने के द्वारा अथवा-कर्म-फल भोगने से पूर्व तप आदि के द्वारा संपादित होती है।

इस प्रकार से द्रव्य निर्जरा दो प्रकार की हो जाती है। प्रथम सविपाक निर्जरा और द्वितीय अविपाक निर्जरा।

स्थिति के पूर्ण होने पर, कर्मों के सुख-दुःखात्मक फल देकर विलग होने को सविपाक निर्जरा कहते हैं। जैसे-आम आदि फल पककर झर जाते हैं, वैसे ही यह निर्जरा केवल फलोन्मुख हुए कर्मों की होती है। इसे यथाकाल निर्जरा भी कहते हैं। यह सभी संसारी जीवों के होती है क्योंकि बंधे हुए कर्म अपने-अपने समय पर अपना फल देकर निजीर्ण होते ही रहते हैं। मोक्षमार्ग में इस प्रकार की निर्जरा का महत्त्व नहीं है, क्योंकि इस निर्जरा में राग-द्वेष होने के कारण निर्जरा के साथ-साथ नवीन कर्मों का बंध होता है। संवर पूर्वक होने वाली निर्जरा ही मोक्ष मार्ग में उपादेय है।

सविपाक निर्जरा के विपरीत अविपाक निर्जरा है, जिसमें परिपाक काल से पहले तपादि साधनों के द्वारा, समय से पूर्व ही कर्मों को विलगाया जाता है। यह ऐसा ही है जैसे-माली कच्चे आमों को तोड़कर, पाल आदिक में रखकर, उन्हें समय से पूर्व ही पका लेता है। वैसे ही अविपाक निर्जरा परिपाक काल से पूर्व ही तपादि विशेष साधनों द्वारा की जाती है। यह समय से पूर्व ही कर्मों को गला देती है। मोक्षमार्ग में यह अविपाक निर्जरा ही उपादेय मानी गयी है। यह व्रतधारी, सम्यक्‌दृष्टि पुरुषों के ही होती है।

5.3.1 निर्जरा का साधन — निर्जरा का साधन तप कहा गया है। करोड़ों वर्षों से संचित कर्म-तप से निर्जरित हो जाते हैं। 'भव कोटि संचियं कम्मं तवसा णिज्जरइ' कहा गया है कि तप के बिना अकेले संवर से ही मोक्ष नहीं होता। जैसे अर्जित धन उपभोग के बिना समाप्त नहीं होता, वैसे ही संचित कर्म तपस्या के बिना नष्ट नहीं होते। इसलिए कर्म-निर्जरा के लिए तप आवश्यक है।

जैन शास्त्रों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसे मोक्षमार्ग का प्रमुख अंग बताकर, धर्म निरूपित किया गया है। 'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवो' तप के महात्म्य का उल्लेख करते हुए 'भगवती आराधना' में कहा है कि 'जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो निर्दोष तप से प्राप्त नहीं होता। जैसे अग्नि तृण को जलाती है वैसे ही तप रूप अग्नि संपूर्ण कर्मों को जलाकर भस्म कर डालती है। उत्तम प्रकार से किया गया, आस्रव-रहित तप का फल वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है।

5.3.2 तप लक्षण — तप की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। किसी ने अमुक व्रत को ही तप माना है, किसी ने वनवास, कंद-मूल भक्षण अथवा सूर्य के आतप को सहना ही तप माना है, तो किसी ने देह और इंद्रियों के दमन से ही तप की पूर्णता स्वीकार की है, किसी ने मात्र मानसिक तितिक्षा को ही तप मानने की हिमायत की है, परन्तु जैन धर्म में तप का बड़ा विशद अर्थ किया गया है और उसमें शरीर, मन और आत्मा की शुद्धि करने वाली सर्ववस्तुओं को स्थान दिया गया है।

"इच्छा निरोधस्तपः" यह जैनों का प्रसिद्ध सूत्र है। तप का मूल उद्देश्य इच्छाओं का निरोध ही है। इसलिए अज्ञान पूर्वक लौकिक ख्याति, पूजा, प्रतिष्ठा और लाभ की भावना से किए गए तप को बाल-तप (अज्ञानियों का तप) कहा गया है। वस्तुतः ऐहिक आकांक्षाओं से ऊपर उठकर सिर्फ कर्म क्षय के लिए किया गया पुरुषार्थ ही तप है। आचार्य अकलंकदेव ने तप का लक्षण करते हुए कहा है, "कर्म निर्दहनात्तपः" कर्मों का दहन अर्थात् भस्म कर देने के कारण ही

इसे तप कहते हैं, जैसे अग्नि संचित-तृणादि ईंधन को भस्म कर देती है, उसी प्रकार तप भी जन्म-जन्मांतरों के संचित कर्मों को जला डालते हैं,तथा देह और इंद्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोककर, उन्हें तपा देते हैं, अतः ये तप कहे जाते हैं "तवो विसयविणि ग्गहो जत्थ" तप वही है जहाँ विषयों का निग्रह है।

5.3.3 तप के भेद—तप के बारह भेद हैं। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह बाह्य तप हैं। बाह्य द्रव्यों के आलंबनपूर्वक होने से तथा बाहर प्रत्यक्ष दिखने से, इन्हें बाह्य तप कहते हैं। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छहों भेद आभ्यंतर तप के हैं। मनोनिग्रह से संबंध होने के कारण इन्हें आभ्यंतर तप कहते हैं। बाह्य तप भी आभ्यंतर तप की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही किये जाते हैं। बाह्य-तप आभ्यंतर तप का साधन है।

इस प्रकार जैनागम में वर्णित तप द्वारा संवरपूर्वक समस्त कर्मों की निर्जरा (क्षय) करके कर्मों से मुक्ति प्राप्तकर शाश्वत सुख मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

5.4 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-संवर से क्या आशय है ?

प्रश्न 2-संवर के मूल साधन कितने और कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 3-संवर के कुल बासठ भेद किस प्रकार से हैं ?

प्रश्न 4-दस धर्मों के नाम बताइये ?

प्रश्न 5-निर्जरा का स्वरूप बताइये ?

इकाई–3 निमिन्त उपादान एवं भाग्य-पुरुषार्थ

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) कार्य कारण सिद्धान्त

(2) मोक्ष और संसार के कारण

(3) निमित्त की बलवत्ता

(4) भाग्य (दैव) और पुरुषार्थ

(5) पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता

पाठ-1—कार्य कारण सिद्धान्त

1.1 जैनदर्शन में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अनादि निधन एवं स्वतंत्र रूप में माना जाकर उसे परिणमन (परिवर्तन) शील भी स्वीकार किया गया है। परिवर्तित होते हुए भी वस्तु कायम (स्थिर) रहा करती है। विज्ञान ने भी यह बात स्वीकार की है कि संसार में कोई भी वस्तु पूर्णतया नष्ट नहीं होती है, केवल उसके रूप (आकार) में परिवर्तन होता रहता है। इन (दशाओं) के परिवर्तन में दो कारण हुआ करते है। (1) अंतरंग (2) बहिरंग। अंतरंग कारण को उपादान और बहिरंग कारण को निमित्त कारण कहा जाता है। अर्थात् जो वस्तु स्वयं अपनी योग्यता से परिवर्तित हो रही है वह वस्तु उपादान कारण और इस परिवर्तन में जो अन्य वस्तुएँ सहायक होती हैं वे निमित्त कारण कहलाती हैं। जैसे अग्नि के संयोग से पानी के गर्म होने पर पानी में गर्म होने की योग्यता के कारण पानी उपादान और अग्नि के संयोग को निमित्त कारण कहा जावेगा।

कार्यों के सम्पन्न होने में अंतरंग और बहिरंग उभय कारणों की समग्रता का होना द्रव्य का स्वभाव है। क्योंकि बिना उपादान या निमित्त के कोई भी कार्य नहीं होता। अग्नि के संयोग के बिना पानी का गर्म न होना यह सूचित करता है कि गर्म होने में अग्नि या सूर्यादि की किरणों की सहायता आवश्यक है। यह कोई कल्पित बात या सिद्धान्त न होकर वस्तु का स्वभाव है। यदि केवल उपादान (पानी) ही को गर्म होने में कारण माना जावे तो अग्नि के संयोग बिना पानी गर्म हो जाना चाहिए था, जो नहीं होता। यद्यपि पानी के गुण पानी में और अग्नि के गुण अग्नि में ही रहा करते हैं किन्तु पानी अग्नि से ही प्रभावित होकर गर्म होता है। अतः उसकी निमित्त कारणता (सहायता) भी अपमान्य नहीं की जा सकती।

1.2 कार्य कारण सिद्धान्त—

प्रत्येक कार्य स्वस्व योग्य उपादान कारण तथा योग्य बहिरंग कारणों के सद्भाव होने पर एवं विरोधी कारणों का अभाव होने पर कार्य सम्पादन होता है।

दीप प्रज्ज्वलन रूप कार्य के लिए तेल, बत्ती, दिया, अग्नि, प्राणवायु (ऑक्सीजन) आदि का योग्य संयोग होना चाहिए तथा तीव्र वायु संचालन, अग्नि स्तम्भन रूप मणि, मंत्र-तंत्र, लेप, औषधादि का अभाव होना चाहिए। एक कार्य पूर्ण करने के लिए जितने यथा-योग्य कारणों की आवश्यकता है, उनमें से एक भी कारण का अभाव होने पर कार्य नहीं हो सकता है। जिस प्रकार दीप प्रज्ज्वलन रूप कार्य के लिए अन्य कारणों के सद्भाव होने पर भी अग्नि रूप एक कारण के अभाव से दीपक प्रज्ज्वलित नहीं हो सकता है, उसी प्रकार तेल, बत्ती, ऑक्सीजन आदि एक-एक कारण के अभाव होने पर भी दीप प्रज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता है। तेल आदि के सद्भाव से भी तीव्र वायु संचालन आदि रूप विरोधी कारणों के सद्भाव होने पर दीप प्रज्ज्वलन रूप कार्य नहीं हो सकता है अर्थात् निमित्त के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

1.3 उपादान कारण—

जो कारण बाह्य निमित्त की सहायता लेकर स्वयं कार्यरूप में परिणमन करता है, उसको उपादान कारण कहते हैं। जैसे-योग्य मिट्टी, योग्य कुम्भकार आदि बाह्य निमित्त की सहायता से स्वयं परिणमन करती हुई कुम्भादि रूप में परिणमन कर लेती है। इसको ही मुख्य कारण, अन्तरंग कारण, आत्मभूत आदि से अभिहित करते हैं।

1.4 निमित्त कारण—

उपादान कारण के सिवाय और जो दूसरे कारण जो कार्य बनने में सहायता करते हैं, वे निमित्त कारण बनते हैं। इसको ही गौण कारण अनात्मभूत कारण, सहकारी कारण कहते हैं।

1.5 प्रत्येक कार्य में उभय कारणों की पूर्णता आवश्यक—

आचार्य समन्तभद्रस्वामी जी कहते हैं कि कार्यों में उभय कारणों की समग्रता का होना द्रव्य का स्वभाव है और 'स्वभावोऽतर्क गोचरः' के अनुसार इसमें तर्क करने की कोई गुंजाइश नहीं है। स्वामी जी आगे लिखते हैं कि हे भगवन्! प्रत्येक कार्य में उभय कारणों की पूर्णता आवश्यक है इसी कारण आप वंद्य हैं। क्योंकि आपका उपदेश श्रवण किये बिना (देशनालब्धि प्राप्त किये बिना) मोक्षमार्ग, सम्यग्दर्शनादि की जानकारी और प्राप्ति नहीं हुआ करती, ऐसा नियम है। अतः प्राणी को मोक्षमार्ग की प्राप्ति में आपकी वाणी की निमित्तता सुनिश्चित है।

यहाँ कहा जा सकता है कि अनेक बार अनेक जन भगवान की वाणी सुनकर भी सम्यग्दर्शनादि स्वरूप मोक्ष मार्ग को प्राप्त नहीं होते, इसका क्या कारण है ? समाधान यह है कि जिन्हें वाणी सुनकर भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता, वे अंतरंग में दर्शनमोह के क्षयोपशम न होने से समर्थ उपादान नहीं थे और न काललब्धि के अभाव से आसन्नभव्य होंगे। जबकि उपादान में उस समय कार्य रूप परिणमन की योग्यतादि का होना भी अनिवार्य है। एक कार्य के होने में अनेक कारण हुआ करते हैं, जिनमें अंतरंग कारण की तैयारी तथा काललब्धि आदि का होना भी आवश्यक है। केवल बाह्य निमित्त से ही कार्य नहीं होता और न कार्य के अभाव में वह निमित्त ही कहलाता है।

नियम भी है कि कोई भी निमित्त या उपादान कारण तब ही माना जावेगा, जब कार्य हो जावे। कार्य के हो जाने पर ही यह देखा जावेगा कि इसमें कौन निमित्त और कौन उपादान था ? कार्य के हुए बिना न कोई उपादान होता है और न कोई निमित्त।

सभी वस्तुएँ पूर्ण स्वतंत्र सत्ता सम्पन्न अपने-अपने ध्रुव स्वभाव में स्थित हैं, फिर भी वे परिवर्तनशील होने से नई-नई पर्यायें धारण करती रहती हैं। इस परिवर्तन में जो अन्य वस्तु सहायक हो जाती है, उसे ही निमित्त कहा जाता है और स्वयं परिवर्तित वस्तु को उपादान। जिनका आलम्बन लेने से कार्य सिद्ध होते हैं, उन्हें भी निमित्त नाम से कहा जाता है। जैसे ग्रंथ पठन में चश्मे का आलंबन लेना। यद्यपि आँखों में देखने की शक्ति है किन्तु वह चश्मे के आलंबन बिना अभिव्यक्त नहीं होता। अतः चश्मा चक्षु से पठन कार्य में निमित्त कहलाता है। उस समय प्रकाश भी निमित्त होता है।

वास्तविकता यह है कि कार्यों का कारणों के साथ अविनाभाव संबंध रहा करता है। जिसके बिना कार्य न हो वे ही वास्तव में उस कार्य के कारण माने जावेंगे। अन्य अनंत उपस्थित पदार्थ नहीं है। जैसे सुनार के द्वारा सोने का कड़ा बना तो कड़ा बनने में सुनार ही निमित्त कहलावेगा, अन्य नहीं।

इसके अतिरिक्त जो पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणत होता है उसे उपादान और जो बाह्य पदार्थ उस कार्य में सहायक होता है, उसे निमित्त की संज्ञा प्रदान करने का लोक व्यवहार भी है। इस संदर्भ में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि जो पदार्थ अपनी नवीन पर्याय या कार्य की उत्पत्ति में जिस समय उपादान है उसी समय वह अन्य पदार्थों के परिणमन में निमित्त भी हो सकता है या हो जाता है।

जैसे जिस समय कुम्हार ने मिट्टी से घड़ा बनाया उस समय मिट्टी उपादान है और कुम्हार निमित्त। किन्तु उसी समय कुम्हार को घड़ा बन जाने की सफलता से हर्ष हो रहा है उस हर्ष के होने में घड़े का सम्पन्न होना निमित्त और कुम्हार उपादान है। इस प्रकार एक ही समय प्रत्येक पदार्थ स्वयं कार्यरूप परिणत होकर उपादान तथा परिणमन में सहायक अन्य पदार्थ निमित्त संज्ञा के व्यवहार को प्राप्त हो जाते हैं, सर्वथा न कोई केवल उपादान है और न केवल निमित्त है।

निमित्त और उपादान कारणों के संबंध में उनकी ऐकांतिक खींचतान करने से प्राय: विवाद भी हो जाता है, क्योंकि कोई यह कहता है कि कार्य केवल उपादान कारण से ही होता है और निमित्त सर्वथा अकिंचित्कर है जबकि दूसरा यह कहता है कि कार्य केवल निमित्तों की सहायता से ही होता है अत: उपादान अकिंचित्कर है। यह उपादान और निमित्त के प्रति पक्षपातपूर्ण एकांतिक आग्रह का परिणाम है। वास्तविकता यह है कि कार्य दोनों अंतरंग और बहिरंग कारणों की समग्रता से ही सम्पन्न होता है। यदि कुम्हार के योग्य और उपयोग के बिना ही मिट्टी से घड़ा बन जाता तो केवल उपादान का पक्ष पुष्ट होता और यदि बिना मिट्टी के ही कुम्हार केवल अपने योग और उपयोग से घड़ा बना देता, तो निमित्त का पक्ष पुष्ट होता, जो दोनों पक्षों के हित में संभव नहीं है।

1.6 भवितव्यता-

अंतरंग और बहिरंग (उपादान और निमित्त) दोनों कारणों के मिल जाने पर ही कार्य होता है, जिसे होनहार या भवितव्यता कहते हैं। यह पदार्थों में निहित शक्ति की अभिव्यक्ति होने का तथ्य पूर्ण स्पष्टीकरण है। इस नियम को टाला नहीं जा सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे भगवन्! उपर्युक्त तथ्य और सत्य के होते हुए भी अहंकारी प्राणी 'यह कार्य मैंने किया', इस प्रकार अपनी कर्तृत्व की मान्यता और कल्पना कर कार्य का स्वामी न होते हुए भी व्यर्थ ही सुखी-दुखी होता रहता है। जबकि कार्य अपने-अपने उपादान और निमित्त कारणों के संयोग से ही सम्पन्न होता है, केवल एक हमारे निमित्त कारण से नहीं।

केवल उपादान अथवा केवल निमित्त को ही कार्य होने का एकमेव कारण मानने या स्वयं को उस कार्य के कर्तृत्व का अभिमान करने वालों के मतिभ्रम को दूर करने हेतु आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने वृहत्स्वयंभू स्तोत्र में जो और भी स्पष्टीकरण किया है वह भी दृष्टव्य है—

अर्थात् आत्मा में गुणों या दोषों की उत्पत्ति में आत्मा के अंतरंग उपादान कारण के साथ ही जो भी बहिरंग निमित्त कारण होता है वह असंबद्ध न होकर उस अंतरंग उपादान कारण का अंग है, क्योंकि केवल अंतरंग कारण कार्योत्पत्ति में समर्थ नहीं होता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई भी कार्य न तो केवल उपादान कारण से सिद्ध होता है और न केवल निमित्त से। अत: इस संबंध में केवल निमित्त या केवल उपादान को ही कार्योत्पत्ति में कारण मानना न तो प्रमाणित होता है और न न्याय संगत ही सिद्ध होता है। अत: उपादान और निमित्त में किसी एक का पक्ष लेकर खींचतान करना उचित नहीं है।

बहिरंग निमित्त स्वयं भी मिलते हैं और मिलाये भी जाते हैं, किन्तु वे उस कार्य में निमित्त कारण तभी कहलावेंगे, जब वह कार्य उसकी सहायता से सम्पन्न हो जावेगा। यदि वे इष्ट कार्य के सम्पन्न होने में बाधक बन जाते हैं तो वे बाधा में निमित्त कहलावेंगे। जैसे किसी ने धनार्जन करने हेतु व्यापार किया, किन्तु व्यापार में लाभ होने की अपेक्षा हानि हो गयी तो हानि में वह व्यापार ही निमित्त कहलावेगा।

हम प्रतिदिन और प्रतिक्षण अपने कार्यों की सिद्धि हेतु निमित्त मिलाने में प्रयत्नशील रहा करते हैं। आत्म कल्याण और शांति प्राप्ति हेतु देवदर्शन, पूजनादि करने जिन मंदिर जाते हैं, ज्ञानार्जन हेतु गुरु की सेवा एवं स्वाध्याय करते हैं। धनार्जन हेतु व्यापार और निवास हेतु गृह निर्माणादि करते हैं। यह सब अपने इष्ट कार्य की सिद्धि हेतु निमित्त मिलाने की

प्रक्रियाएँ हैं, किन्तु देव दर्शन और उपासना करने पर जिस व्यक्ति को शांति मिलेगी या सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी, उसे ही देवदर्शन, शांति और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में निमित्त ठहरेगा और यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई तो न देवदर्शन निमित्त और न वह व्यक्ति उपादान ही कहलावेगा क्योंकि सम्यग्दर्शन रूप कार्य की उत्पत्ति ही नहीं हुई।

1.7 कार्य का कर्त्ता-

इस संदर्भ में यह जानकारी आवश्यक है कि जो वस्तु कार्य रूप में परिणमन करती है, वह उस कार्य का उपादान कारण होने के साथ ही उस कार्य का वास्तव में कर्त्ता भी कहलाती है, बाह्य सहकारी अन्य वस्तुएँ केवल निमित्त कारण ही कहलाती हैं। उस कार्य का बाह्य वस्तुओं को कर्त्ता कहना केवल आरोपित व्यवहार या उपचार है। जो कार्य रूप स्वयं परिणत हो रहा है, वास्तव में कर्त्ता वही कहलाता है।

इसके सिवाय किसी भी कार्य का उपादान कारण केवल एक ही वस्तु होती है, जो स्वयं कार्य रूप में परिणत होती है, किन्तु बाह्य निमित्त अनेक होते या हो सकते हैं, जिन्हें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के नाम से कहा जाता है। जैसे यदि किसी व्यक्ति को जिनबिम्ब दर्शन से मंदिर में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई तो उसमें जिनबिम्ब द्रव्य, मंदिर क्षेत्र, जिस समय सम्यग्दर्शन हुआ वह काल तथा दर्शन मोह कर्म के क्षयोपशमादि जन्य अध:करणादि रूप भाव उसमें सहायक होते हैं। ये सब ही निमित्त कहलाते हैं। किन्तु यदि व्यक्ति को सम्यग्दर्शन न हुआ हो, तो बाह्य सभी वस्तुएँ निमित्त नहीं कहलायेगी।

इस प्रकार कार्यों के सम्पन्न होने में उपादान और निमित्त कारणों की जैन दर्शन में यह संक्षेप में व्यवस्था है।

यह नियम है कि प्रत्येक कार्य बाह्य और अंतरंग दोनों हेतुओं की अपेक्षा रखता ही है फिर भी जब बाह्य निमित्त की प्रधानता होती है तब उसी से कार्य हुआ है ऐसा कहा जाता है। यहाँ भी वही अभिप्राय समझ लेना चाहिए कि निमित्त मिलने पर कार्य हो, न भी हो, किन्तु कार्य की सिद्धि बिना निमित्त के नहीं होती है।

1.8 सहकारी कारण को निमित्त कहते हैं। अंतरंग कारण को उपादान कहते हैं-

जो स्वयं कार्यरूप परिणत हो जावे उसे उपादान कहते हैं। जैसे—सम्यक्त्व की उत्पत्ति में बाह्य कारण जिनबिम्बदर्शन हुआ और अंतरंग कारण दर्शनमोह का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हुआ एवं सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये आत्मा के गुण हैं अत: आत्मा सम्यक्त्वरूप से परिणत हुआ है। यहाँ पर आत्मा उपादान है तथा बाह्य और अभ्यंतर दोनों निमित्त कारण हैं।

परन्तु कहीं-कहीं पर अंतरंग हेतु को ही 'उपादान' नाम दे देते हैं जैसे— पुरुषार्थ को निमित्त कहकर दैव को उपादान समझ लेना इत्यादि।.

प्रत्येक कार्य बाह्य और अंतरंग कारणों से ही होते हैं उन उभय के बिना नहीं।

श्री समंतभद्र स्वामी ने कहा है—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।।60।।

हे भगवन् ! घट आदि कार्यों में यह जो बाह्य और आभ्यंतर कारणों की पूर्णता है वह आपके मत में जीवादि द्रव्यगत स्वभाव ही है।

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।

शुभ-अशुभ कर्म अथवा बाह्य और आभ्यंतर दोनों कारणों से उत्पन्न होने वाला कार्य ही जिसका लिंग-ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता—होनहार किसी भी तरह टाली नहीं जा सकती है।

बाह्य और अंतरंग कारण अथवा निमित्त-उपादान कारण से ही समस्त कार्यों की सिद्धि होती है।

प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के लिये जो कारण कहे गये हैं वे बाह्य कारण हैं। यद्यपि निसर्गज सम्यक्त्व में बाह्य गुरु के उपदेश रूप कारणों की अपेक्षा नहीं है। फिर भी 'जातिस्मरण और जिनबिम्बदर्शन' ये दो कारण माने ही हैं। वीरसेन

स्वामी ने तो 'इन दो कारणों के बिना असंभव है' ऐसा पद दे दिया है तथा क्षायिक सम्यक्त्व के लिये केवली या श्रुतकेवली का पादमूल आवश्यक है उसके बिना सात प्रकृतियों का क्षय असंभव है।

जिन कारणों के होने पर कार्य हो अथवा न भी हो, किन्तु जिन कारणों के बिना कार्य न हो वे समर्थ कारण माने जाते हैं।

जैसे—सम्यक्त्व के होने पर तीर्थंकर प्रकृति का बंध हो न भी हो, किन्तु सम्यक्त्व के बिना तीर्थंकर प्रकृति का बंध असंभव ही है।

1.9 सम्यक्त्व में ही तीर्थंकर प्रकृति बंधती है—

प्रथमोपशम सम्यक्त्व में अथवा बाकी के तीनों (द्वितीयोपशम, क्षयोपशम और क्षायिक) सम्यक्त्व में, असंयत से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक (आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक) मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवली के निकट में तीर्थंकर प्रकृति के बंध का आरंभ करते हैं।

यद्यपि यह केवली-श्रुतकेवली का चरण सान्निध्य बाह्य निमित्त कारण है फिर भी इसके बिना कोई भी मनुष्य तीर्थंकर प्रकृति का बंध कर नहीं सकता है।

सोलहकारण भावनायें तीर्थंकर प्रकृतिबंध में कारण हैं—''दर्शनविशुद्धता आदि सोलहकारणों से जीव तीर्थंकर नाम-गोत्र कर्म को बांधते हैं।''[1] धवलाकार ने तो एक-एक भावना में अन्य-अन्य भावनाओं को गर्भित करके एक-एक भावना के द्वारा भी तीर्थंकर प्रकृति का बंध माना है अर्थात् जब एक-दो आदि व्यक्त भावनाओं से तीर्थंकर प्रकृति का बंध माना जाय तब यह समझना कि उस भावना में शेष भावनायें अंतगर्भित हैं।''

1.10 द्रव्यवेद मोक्ष में निमित्त है, भाववेद नहीं—

ऐसे ही यदि कोई द्रव्य से पुरुषवेदी है और भाव से वह पुरुष स्त्रीवेदी या नपुंसक वेदी है तो वह क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके कर्मों का नाशकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। किन्तु जो स्त्री द्रव्य से स्त्रीवेदी है तथा भाव से पुरुषवेदी है वह भावों से पंचम गुणस्थान के ऊपर न चढ़ सकने के कारण उस भव में मोक्ष की अधिकारिणी नहीं है। यहाँ पर बाह्य निमित्त इतना बलवान देखा जाता है जो कि अंतरंग भाववेदों की महत्ता नहीं रखता है।

शास्त्र भी शुद्धस्वरूप के लिए निमित्त हैं

मूलाचार की टीका में श्री वसुनन्दि आचार्य कहते हैं—

''मूलगुणैः शुद्धस्वरूपं साध्यं, साधनमिदं मूलगुणशास्त्रं।''

मूलगुणों के द्वारा आत्मा का शुद्धस्वरूप साध्य है और मूलगुण प्रतिपादक यह शास्त्र साधन है।

मूलगुण उत्तर गुणों के लिए निमित्त हैं-

''मूलगुणाः प्रधानानुष्ठानानि उत्तरगुणाधारभूतानि।''

मूलगुण अर्थात् प्रधान अनुष्ठान जो उत्तर गुणों के लिए आधारभूत हैं।

''मूलगुणान् सर्वोत्तरगुणाधारतां गतानाचरणविशेषान्''

सभी उत्तर गुणों के आधारपने को प्राप्त ऐसे आचरण विशेष जो मूलगुण हैं उनको मैं कहूँगा।

अभिप्राय यह हुआ कि मूलगुणों के बिना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति और उत्तर गुणों की सिद्धि असम्भव है। ऐसे ही आवश्यक क्रिया का लक्षण करते हुए कहा है—

1.11 आवश्यक क्रियायें कर्मनिर्मूलन में निमित्त हैं—

''आवासया-आवश्यकानि निश्चयक्रिया सर्वकर्मनिर्मूलन समर्थनियमाः।''

अवश्य करने योग्य कार्य को आवश्यक कहते हैं। ये ही निश्चय क्रियायें हैं ये ही सर्व कर्मों के निर्मूलन करने में

समर्थ नियम हैं।

समता, स्तव, वंदना आदि छह आवश्यक क्रियाएँ हैं। आगे इन आवश्यक क्रियाओं में वंदना आवश्यक में कृतिकर्म का लक्षण करते हुए कहा है—

"कृत्यते छिद्यते अष्टविधं कर्म येनाक्षरकदंबकेन परिणामेन क्रियया वा तत्कृतिकर्म पापविनाशनोपाय:।।"

जिन अक्षर समूह से, परिणामों से या क्रिया से आठ प्रकार के कर्मों को काटा जाता है, छेदा जाता है वह कृतिकर्म है। यहाँ पर स्तव आदि के अक्षरसमूह से भी कर्मों का छेदन होना माना गया है।

1.12 अरहंत भगवान कर्मक्षय में निमित्त हैं—

इसी अभिप्राय को लेकर श्रीकुंदकुंददेव भी कहते हैं—

जिन पर चौंसठ चंवर ढुराये जा रहे हैं, जो चौंतीस अतिशयों से संयुक्त हैं, जो अनवरत बहुत से जीवों का हित करते हैं ऐसे वे अर्हंत भगवान कर्मक्षय के कारण में निमित्त हैं।

श्री गौतम स्वामी के द्वारा बनाई हुई चैत्य भक्ति व श्री कुंदकुंददेव रचित दश भक्तियों में ऐसे अनेकों उदाहरण दिखते हैं।

श्री कुंदकुंददेव ने नियमसार में सम्यक्त्व के लिए बाह्य निमित्त व अंतरंग निमित्त को तो कहा ही है किन्तु अंत में उन्होंने ग्रंथ के बनाने में भी हेतु व्यक्त किया है—

मैंने पूर्वापर दोष रहित, जिनोपदेश का परिज्ञान कर निज भावना में निमित्त कारणभूत इस नियमसार नामक शास्त्र को बनाया है।

1.13 तीर्थंकर का विहार प्राणियों के सुख में निमित्त है—

तीर्थंकरों का विहार संसार के लिए सुखकर है परन्तु उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त होता हो ऐसा नहीं है तथा दान और पूजा आदि आरंभ के करने वाले वचन उन्हें कर्मबंध से लिप्त नहीं करते अर्थात् वे दान, पूजा आदि आरम्भों का जो उपदेश देते हैं उससे उन्हें कर्मबंध नहीं होता है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने दान-पूजा आदि करने का उपदेश दिया है अत: वह सब मोक्षमार्ग है, हेय नहीं है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं है प्रत्युत् मोक्ष का कारण है—

भावसंग्रह में श्री देवसेनाचार्य कहते हैं—

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।।404।।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य संसार का कारण नहीं होता। प्रत्युत्—

तम्हा सम्माइट्ठी, पुण्णं मोक्खस्स कारणं हवइ।।424।।

अत: सम्यग्दृष्टि का पुण्य मोक्ष का कारण होता है।

1.14 अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं—

तीर्थंकर प्रकृति पुण्य प्रकृति है। इसका बंध आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक माना है। जबकि आठवें में जीव श्रेणी आरोहण में है और वहाँ शुक्लध्यान है, निर्विकल्प परिणति है तथा उस प्रकृति का उदय आने पर अर्हंत भगवान 'पुण्य के फल' माने जाते हैं। सो ही कहा है—

अरहंत भगवान (तीर्थंकर नामक) पुण्य प्रकृति के फल हैं और उनकी क्रिया निश्चय से औदयिकी है, वह क्रिया मोहादि से रहित है अत: वह 'क्षायिकी' ऐसा मानी गई है।

"अर्हंत भगवान वास्तव में सम्यक् प्रकार से सम्पूर्ण परिपक्व हुए पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही हैं। उनकी सब क्रियायें पुण्य के उदय से औदयिकी हैं फिर भी मोह का अभाव हो जाने से वे कर्मबंध नहीं कर सकती हैं अत: उन्हें

क्षायिकी ही क्यों न कह देवें।"

श्री जयसेनाचार्य भी इसकी टीका में कहते हैं—जो पंच महाकल्याणक की पूजा को करने वाला है, त्रैलोक्य को जीतने वाला है वह तीर्थंकर नाम का पुण्य कर्म है उसी के फलभूत अर्हंत भगवान होते हैं, इत्यादि।

अर्थात् तीर्थंकर प्रकृति को सातिशय पुण्य प्रकृति कहा गया है। वे अनंत प्राणियों के अनुग्रह करने में समर्थ ऐसे धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। यह प्रकृति कर्मरूप होते हुए भी कथमपि संसार का कारण नहीं है।

व्रत निर्जरा के कारण हैं—यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के व्रतों के वृद्धिंगत होने पर क्रम-क्रम से कर्मों की निर्जरा बढ़ती चली जाती है—

"तीनों कारणों के अंतिम समय में वर्तमान विशुद्ध मिथ्यादृष्टि के जो गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य है उससे प्रथमोपशम सम्यक्त्व की उत्पत्ति होने पर असंयतसम्यग्दृष्टि के प्रतिसमय में होने वाली गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यातगुणा है। इससे देशविरत के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यात गुणा है। इससे सकलसंयमी के गुणश्रेणी निर्जरा का द्रव्य असंख्यातगुणा है......।"

कर्मनिर्जरा का काल निश्चित नहीं है—इसीलिये तो श्री भट्टाकलंक देव ने कर्मनिर्जरा का काल निश्चित नहीं किया है—

निर्जरा के काल का कोई नियम नहीं है, क्योंकि, भव्यों के सम्पूर्ण कर्मों की निर्जरापूर्वक मोक्ष के काल का कोई नियम नहीं है।

1.15 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-कार्य कारण सिद्धान्त को समझाइये ?

प्रश्न 2-उपादान कारण से क्या आशय है ?

प्रश्न 3-निमित्त कारण का विवेचन कीजिए ?

प्रश्न 4-"अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं" इस कथन का विवेचन करिये ?

पाठ-2–मोक्ष और संसार के कारण

2.1 मोक्ष के लिए भी निमित्त आवश्यक है—

कुछ सम्प्रदाय वाले मोक्ष को अकारण मानते हैं व कुछ सम्प्रदाय वाले संसार को ही अहेतुक कहते हैं। अष्टसहस्री ग्रंथ में उनकी मान्यता का निरसन करते हुये आचार्य श्री विद्यानंदि महोदय ने मोक्ष व संसार दोनों को सकारण सिद्ध किया है।

मोक्ष कारण सहित है, क्योंकि प्रतिनियत काल आदिपूर्वक होती है वस्त्रादि के समान अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और तीर्थ आदि सामग्री के बिना मोक्ष नहीं हो सकता है इसलिए सकारण है। अन्यथा मोक्ष को बिना निमित्त के मानने पर तो सर्वदा सभी जगह सभी को मोक्ष प्राप्त हो जायेगा, चूँकि वह पर की अपेक्षा से रहित है तथा आगम से भी मोक्ष का कारण तत्त्व बाधित नहीं है। बल्कि वह उस निमित्त का साधक ही है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं, यह आगम वाक्य है।

संसारस्थितिछेद के कारण—

समयसार के आस्रव अधिकार में आचार्य श्री जयसेन ने परमागम के कहे अनुसार संसार स्थिति छेद के कारण बताये हैं—

''द्वादशांग का ज्ञान, उसकी तीव्र भक्ति, अनिवृत्ति परिणाम और केवलीसमुद्घात ये चार संसार स्थिति का घात करने वाले होते हैं।''

रत्नत्रय तो छद्मस्थों के संसार स्थिति का घात करते हैं और केवली समुद्घात केवली भगवान के अघाति कर्मों की स्थिति का घात करता है।

2.2 दिगम्बर मुद्रा मुक्ति का कारण है—

श्री कुंदकुंददेव सूत्रपाहुड़ में कहते हैं—

णवि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।23।।

वस्त्र धारण करने वाला मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है भले ही वह तीर्थंकर ही क्यों न हो, ऐसा जिनशासन में कहा है। अत: नग्न दिगम्बरपना ही मोक्ष का मार्ग है, इसके सिवाय शेष सभी उन्मार्ग हैं।

2.3 पुण्यास्रव भी मोक्ष का कारण है—

देखिये श्री भट्टाकलंक देव के वचन—

''तत्र पुण्यास्रवो व्याख्येय: प्रधानत्वात् तत्पूर्वकत्वात् मोक्षस्य।''

इस सप्तम अध्याय में अब पुण्यास्रव का व्याख्यान करना चाहिए, क्योंकि वह प्रधान है। ऐसा क्यों ? तो उस पुण्यास्रवपूर्वक ही मोक्ष होता है अर्थात् मोक्ष के लिए यह कारण है।

तभी तो जीवों से व्याप्त इस लोक में विचरण करते हुए भी मुनि कर्मों की निर्जरा करते रहते हैं—

प्रश्न यह हुआ कि—

'कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए।
कथं भुंजेज्ज भासेज्ज जदो पावं ण बंधइ'।।

हे भगवन्! कैसे आचरण करें ? कैसे ठहरें ? कैसे बैठें ? कैसे शयन करें ? कैसे भोजन करें ? और कैसे बोलें कि जिससे पापों का बंध नहीं होवे।

तब— **जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सए।**

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधइ।।63।।

यत्नपूर्वक आचरण करो, यत्नपूर्वक खड़े रहो, यत्नूपूर्वक बैठो, यत्नपूर्वक शयन करो, यत्नपूर्वक भोजन करो और यत्नपूर्वक संभाषण करो, इस प्रकार से पाप कर्म का बंध नहीं होता है।

और तभी तो कहा है—

जब महाव्रतियों के प्रतिसमय घटिका यंत्र के जल के समान असंख्यात गुणश्रेणीरूप से कर्मों की निर्जरा होती रहती है तब उनके पाप कैसे संभव है? अर्थात् कथमपि उनके पाप का बंध नहीं हो सकता। निष्कर्ष यह निकला कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ही बंध के कारण हैं न कि अणुव्रत, महाव्रत आदि। ये व्रत तो मोक्ष के लिए कारणभूत ऐसे रत्नत्रय के अंतर्गत हैं।

2.4 संसार अकारणक नहीं है—

ऐसे ही संसार भी अनिमित्तक नहीं है—

कोई कहता है कि ''संसार अहेतुक है क्योंकि वह अनादि अनंत है आकाश के समान। तो आचार्य कहते हैं ऐसा नहीं कहना, पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से संसार अनादि अनंत नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से है तो हमें इष्ट ही है। सुख-दुख आदि पर्यायों के वर्तनरूप जो यह संसार है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच प्रकार का है। 'मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंध के कारण हैं'। और ये बंध के कारण ही तो संसार के कारण हैं।''

निष्कर्ष यही निकला कि जैसे संसार सनिमित्तक है वैसे ही मोक्ष भी सनिमित्तक है। मोक्ष के कारण सम्यक्चारित्र में सकल चारित्र और विकल चारित्र से दो भेद हो जाते हैं। विकल चारित्र में बारह व्रतों के अंतर्गत चार शिक्षाव्रतों में दान और पूजा का ग्रहण है अत: ये दान पूजा आदि मोक्ष के ही कारण हैं यह निश्चित समझना चाहिए।

संसार के कारण—श्री कुंदकुंद देव ने समयसार ग्रंथ में भी संसार के कारण व मोक्ष के कारण बताये हैं।

मिथ्यात्व पुन: दो प्रकार का है—एक जीव मिथ्यात्व, दूसरा अजीव मिथ्यात्व, और उसी प्रकार से अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि कषाय ये सभी भाव जीव-अजीव के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। यहाँ अजीव मिथ्यात्व आदि बाह्य निमित्त हैं और जीव मिथ्यात्व आदि अंतरंग निमित्त हैं अथवा उपादान कारण हैं।

2.5 मोक्ष के कारण—

अब आप श्री कुंदकुंददेव के समयसार में मोक्ष के कारणों को देखिये—

साधु को दर्शन, ज्ञान और चारित्र नित्य ही सेवन करने योग्य है। पुन: इन तीनों को भी निश्चय से आत्मा ही जानना चाहिए अर्थात् व्यवहार से ये तीन हैं और निश्चय से तीनों स्वरूप एक आत्मा ही है।

यहाँ पर भी भेदरत्नत्रय बाह्य कारण होने से निमित्त है और अभेदरत्नत्रय अंतरंग कारण होने से उपादान है।

आगे और कहते हैं—

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं का जानना वह ज्ञान है और रागादि का त्याग करना चारित्र है यही मोक्ष का पथ है।

कार्य दो तरह के कारणों से होता है-(1) उपादान कारण से (2) निमित्त कारण से। जो कारण स्वयं कार्यरूप बनता है, वह उपादान कारण होता है। उपादान कारण के सिवाय एवं दूसरे कारण जो कार्य बनने में सहायता करते हैं, वे निमित्त कारण होते हैं। जैसे-खान में सोने का पत्थर (सुवर्ण पाषाण) तभी शुद्ध सोना बनता है जब उसे सोना बनने योग्य आस-पास के सहायक कारणों का संयोग मिलता है। खान से निकला हुआ सुवर्ण-पाषाण उपादान कारण है एवं उसको

शुद्ध करने वाला न्यारिया, सुनार आदि निमित्त कारण है। इसी प्रकार संसारी आत्मा भी शुद्ध परमात्मा तभी बनती है जब उसको मुक्त होने के योग्य द्रव्य (कुलीन मनुष्य पर्याय), क्षेत्र (कर्मभूमि), काल (दुःषमा-सुषमाकाल), भाव (क्षपक श्रेणी के योग्य अपने सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र भाव) प्राप्त होता है। मुक्त होने में संसारी आत्मा उपादान कारण होता है और मनुष्य भव, वज्रऋषभनाराचसंहनन, कर्मभूमि, चौथा काल आदि निमित्त कारण हैं। दोनों तरह के समस्त कारण मिलने पर ही मुक्ति रूप शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है।

2.6 संसार से छूटने का क्रम—

समयसार के संवर अधिकार में भी बहुत ही सुंदर क्रम बताया है—

"पूर्व में कहे हुये राग-द्वेष मोहरूप आस्रवों के हेतु सर्वज्ञदेव ने मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग ये चार अध्यवसान कहे हैं सो ज्ञानी के इन हेतुओं का अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध होता है। आस्रव भाव के बिना कर्म का भी निरोध हो जाता है। कर्म के अभाव से नोकर्मों का भी निरोध हो जाता है तथा नोकर्मों का निरोध हो जाने से संसार का निरोध हो जाता है।"

इन प्रकरणों से यह स्पष्ट है कि संसारी आत्मा व्यवहारनय से ही निमित्त रूप से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता-भोक्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से उपादान रूप से निज अशुद्ध भावों का ही कर्त्ता-भोक्ता है। जैसे—कुम्भकार मिट्टी से घड़े को बनाता है उसमें मिट्टी घड़े के लिए उपादान कारण है और कुम्भकार निमित्त कारण है वैसे ही यह आत्मा पुद्गलवर्गणाओं को कर्मरूप परिणमाता है उसमें यह निमित्त कारण है तथा उन पुद्गलों के लिये भी जीव के भाव निमित्त कारण हैं अन्यथा वह पुद्गल कर्मरूप नहीं बनता तथा आत्मा स्वयं अपने रागादि भावों का उपादान कारण है वैसे ही पुद्गल द्रव्य भी कर्मों के लिए उपादान कारण है और जो कारण सहकारी रहता है वह निमित्त कारण है। यद्यपि मिट्टी में हमेशा उपादान कारण मौजूद है किन्तु निमित्तरूप कुम्भकार, चाक, दण्ड आदि के मिले बिना वह मिट्टी कभी घट रूप नहीं बन सकती है वैसे ही कार्मण वर्गणारूप पुद्गल में कर्मरूप होने की उपादान शक्ति मौजूद है किन्तु जीव के रागादि भाव हुये बिना वे पुद्गल वर्गणायें कर्मरूप परिणत नहीं हो सकती हैं। किन्तु जीव के परिणामों का निमित्त लेकर ही कर्मभाव को प्राप्त होती हैं अतः निमित्त के बिना भी कार्य का होना असम्भव ही है। जीव के रागादि भाव होवें और कर्म न बंधे ऐसा कभी नहीं हो सकता है।

2.7 महामंत्र भी कर्मनिर्जरा में निमित्त है—

"णमोकार महामंत्र भी तत्कालीन बंध की अपेक्षा असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा का कारण है।"

इस प्रकरण से यह स्पष्ट है कि देशव्रती तो पुण्य ही करता है, मुनिराज भी सराग संयम, मंगल और महामंत्र के द्वारा पुण्य बंध के साथ-साथ कर्मों की असंख्यात गुणश्रेणी निर्जरा भी किया करते हैं।

निष्कर्ष यह निकला कि यह मंगल, सरागसंयम और महामंत्र का स्मरण पुण्यबंध के साथ-साथ कर्मनिर्जरा में भी निमित्त है।

2.8 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-संसारस्थितिछेद के कौन-कौन से कारण हैं ?

प्रश्न 2-क्या पुण्यास्रव भी मोक्ष का कारण है ?

प्रश्न 3-क्या महामंत्र भी कर्मनिर्जरा में निमित्त है ?

पाठ-3—निमित्त की बलवत्ता

3.1 औषधि भी कर्म को शांत करने में निमित्त है—

''कृत्रिम होते हुये भी कर्म मूर्त ही है। यदि कर्म को मूर्त न माना जाय तो मूर्त औषधि के संबंध से परिणामांतर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है अर्थात् रुग्णावस्था में औषधि सेवन करने से रोग के कारणभूत कर्मों में जो उपशांति आदि देखी जाती है वह नहीं बन सकती है इससे मालूम पड़ता है कि कर्म मूर्त ही है।

यह परिणामांतर की प्राप्ति असिद्ध भी नहीं है क्योंकि ऐसा माने बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगों का विनाश बन नहीं सकता। इसलिये औषधि से कर्म में भिन्न परिणाम की प्राप्ति हो जाती है यह बात सिद्ध है।'' अर्थात् औषधि असाता कर्म को दूर करने में निमित्त है।

यही बात 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' ग्रंथ में भी कही गई है।

अंतरंग में असातावेदनीय का उदय होने पर और बहिरंग में वात आदि विकार के होने पर दुःख (रोग) होता है, उस समय उसके विरोधी औषधि के उपयोग करने पर दुःख (रोग) की उत्पत्ति न होने से उसका उपचार हो जाता है।

यदि कोई कहे कि तब तो असाता का उदय होने पर भी दुःखरूप जो उसका फल था उसको बिना भोगे ही वह कर्म चला गया सो 'किये हुए का फल नहीं मिलना' यह एक दोष उपस्थित हुआ ?

आचार्य कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। कडुवी आदि औषधि के उपयोग से उत्पन्न हुई जो पीड़ा है उतने मात्र ही अपना फल देकर उस असाता की निवृत्ति हो जाती है। इसलिये 'कृतप्रणाश' दोष नहीं आता है।

यह प्रकरण अकालमृत्यु से सिद्धि के प्रसंग का है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि कर्मभूमिज मनुष्य-तिर्यंचों के अकालमृत्यु के लिये 'विषवेदना, रक्तक्षय, भय आदि कारण होते हैं।

श्री कुंदकुंददेव भी कहते हैं—

अकालमृत्यु में विष भक्षण आदि निमित्त हैं—

विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से, रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से, शस्त्रघात से, संक्लेश परिणाम से, आहार तथा श्वांस के निरोध से इन कारणों से आयु का क्षय हो जाता है अर्थात् आयु की उदीरणा होकर अकाल में मरण हो जाता है।

क्रोध भी निमित्त से ही उत्पन्न होता है—

''जिस मनुष्य के निमित्त से क्रोध उत्पन्न होता है वह मनुष्य समुत्पत्ति कषाय की अपेक्षा क्रोध है।''

''किसी अन्य के निमित्त से किसी अन्य में क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता ?''

''यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्मों से कलंकित हुये जीव में कटु वचन के निमित्त से क्रोध की उत्पत्ति देखी जाती है और जो बात पाई जाती है उसके विषय में यह कहना कि यह बात नहीं बन सकती है'' यह ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने में विरोध आता है।

निमित्त के विषय में धवलाकार की और भी मान्यताएँ देखिये—

3.2 पूर्वाचार्यों की आचार परंपरा का अनुसरण रत्नत्रय में निमित्त है—

''आचार्य परम्परा से आये हुए इस न्याय को मन में धारण करके और पूर्वाचार्यों के आचार का अर्थात् व्यवहार परम्परा का अनुसरण करना 'रत्नत्रय का कारण है' ऐसा समझ कर पुष्पदंताचार्य सकारण मंगलादिक छहों अधिकारों का व्याख्यान करने के लिये मंगलसूत्र कहते हैं'—इत्यादि।

श्री गौतमस्वामी भी व्रतों में लगे हुये दोषों की शुद्धि के लिये प्रतिक्रमण आदि को निमित्त मानते हैं तभी तो उन्होंने

मुनियों के पाक्षिक, दैवसिक आदि प्रतिक्रमणों के दण्डक सूत्रों की रचना करके सभी महाव्रती साधुओं के लिये एक अनुपम दोषविशोधक रसायन प्रदान किया है। जिसको कि वर्तमान में साधु-वर्ग बड़ी ही श्रद्धा भक्ति से ग्रहण करके अपने आपको धन्य मान रहे हैं। देखिये—

दैवसिक और पाक्षिक आदिक प्रतिक्रमण दोषों की शुद्धि में निमित्त हैं—

श्री गौतमस्वामी इस दु:षमकाल में मुनियों के दुष्परिणाम आदि से प्रतिदिन उपार्जित कर्म की विशुद्धि के हेतु प्रतिक्रमण लक्षण उपाय को कहते हुये उसकी आदि में मंगल हेतु इष्टदेवता विशेष को नमस्कार करते हैं।

श्री गौतमस्वामी दैवसिक आदि प्रतिक्रमणादिकों के द्वारा निराकरण करने में अशक्य ऐसे दोषों के निराकरण हेतु वृहत्प्रतिक्रमणलक्षण उपाय को कहते हुये उसकी आदि में मंगलार्थ इष्ट देवताविशेष को नमस्कार करते हुये 'णमो जिणाणं' इत्यादि कहते हैं—

श्री गौतमस्वामी ने अंतिम तीर्थंकर को नमस्कार क्यों किया ?

इन 'णमो जिणाणं' आदि गणधरवलय मंत्रों के अंत में वर्धमान भगवान का नमस्कार पद है तो यह प्रश्न सहज हो सकता है कि 'चौबीसों' तीर्थंकर ही स्तुत्य हैं पुन: अंतिम तीर्थंकर को ही यहाँ क्यों लिया' मानो उसके उत्तर में ही श्रीगणधर देव कहते हैं।

जिनके पास में मैंने धर्मपथ को प्राप्त किया है उनके निकट मैं विनय का प्रयोग करता हूँ। मन वचन काय से शिर झुकाकर पंचांग नमस्कारपूर्वक मैं उन वर्धमान स्वामी का सत्कार (नमस्कार) करता हूँ।

इससे भी निमित्त की प्रधानता हो जाती है कि जिनके निमित्त से मुझे मोक्षपद मिला है मैं उनकी विशेष भक्ति करता हूँ।

3.3 निमित्त और उपादान परस्पर सापेक्ष ही सम्यक् हैं—

प्रश्न—कभी-कभी बिना पुरुषार्थ किए भी कार्यसिद्धि होती देखी जाती है जैसे कि किसी को आकस्मिक भूमि में गड़ा हुआ धन का घड़ा मिल जावे तो इसमें निमित्त क्या रहा ?

उत्तर—इसमें बाह्य निमित्त अप्रधान है और अंतरंग का पुण्योदय निमित्त प्रधान है। स्याद्वाद सिद्धांत के वेत्ताओं को बाह्य और अंतरंग कारणों में सापेक्ष दृष्टि रखना चाहिए। इसी बात को श्री समंतभद्रस्वामी ने बहुत ही अच्छे ढंग से समझाया है।

यदि कोई दैव का ही एकांत ग्रहण करे तो उसके लिए कहते हैं—

यदि दैव (भाग्य) से ही कार्यों की सिद्धि मानो तो दैव पुरुषार्थ से कैसे बना ? यदि दैव का निर्माण दैव से ही होता है तो किसी को मोक्ष नहीं हो सकेगा और पुरुषार्थ भी निष्फल हो जाएगा।

किन्तु ऐसी बात नहीं है। वर्तमान के पुरुषार्थ से ही भावी समय का निर्माण होता है। यदि कोई पुरुषार्थ का ही एकांत ग्रहण करे तो कहते हैं—

यदि पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होती है तो फिर पुरुषार्थ दैव से कैसे हुआ ? यदि कहो कि पुरुषार्थ, पुरुषार्थ से ही होता है तब तो सभी के सभी कार्य सफल हो जाएँगे, क्योंकि पुरुषार्थ तो सभी प्राणियों में है ही है।

किन्तु देखा जाता है कि एक साथ खेत में बीज बोने वालों के भी फसल में अंतर पड़ जाता है। सो ऐसा क्यों ? कहना पड़ेगा कि उसका भाग्य अनुकूल नहीं है।

अब इस समस्या में श्री समंतभद्रस्वामी कहते हैं—

अनायास—बिना सोचे-विचारे कोई अनुकूल या प्रतिकूल कार्य हो जाता है तो वह स्वदैवकृत माना जाता है, क्योंकि उसमें बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा नहीं है अत: वहाँ पुरुषार्थ अप्रधान है दैव प्रधान है और इससे विपरीत प्रयासपूर्वक यदि कोई इष्ट या अनिष्ट कार्य होता है तो वह पुरुषार्थकृत् माना जाता है क्योंकि वहाँ बुद्धिपूर्वक की अपेक्षा विद्यमान है,

अतः वहाँ पर दैव की अप्रधानता है, पुरुषार्थ की प्रधानता है।

शंका — सर्वज्ञ के ज्ञान में जो झलका है सो तो होगा ही होगा पुनः पुरुषार्थ करने की, नाना निमित्तों को जुटाने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान — सर्वज्ञ का ज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें हमारा पुरुषार्थ, मोक्ष जाने का समय व उसके लिए मिलने वाले निमित्त सभी झलक चुके हैं। यदि हमारे सामने दर्पण रखा है तो जो हमारी चेष्टाएँ हो रही हैं सो ही उसमें झलक रही हैं तद्वत् सर्वज्ञदेव के ज्ञान में हमारी सम्पूर्ण ही त्रैकालिक स्थिति स्पष्ट है। फिर भी बिना पुरुषार्थ किये कोई भी जीव न आज तक मोक्ष जा सका है और न जा सकता है। यह बात भी उस ज्ञान में झलकी होगी।

आश्चर्य है कि लोग आत्महित के लिए ऐसी कर्तव्यशून्यता का अवलंबन ले लेते हैं किन्तु वैसे ही व्यापार आदि प्रसंगों में थोड़ा संतोष कर लें और सोच लें कि जो मिलना होगा सो मिलेगा, धर्म व कर्तव्य को जलांजलि देकर धन कमाने में आसक्त क्यों होना ? तो उससे उनको लाभ ही होगा न कि हानि। हाँ, जब अतीव प्रयत्न करने के बाद भी कोई कार्य सफल न हो सके अथवा बिगड़ जाए उस समय यही विचार करना चाहिए कि जो होनहार होती है, होकर ही रहती है। अतः अब पश्चात्ताप या अशांति करने से क्या लाभ ? अथवा जो कुछ सर्वज्ञदेव के ज्ञान में प्रतिभासित हुआ है सो हो रहा है। अशांति करने से या संक्लेश करके अशुभ कर्म बंध से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं।

इसलिए अनेकांत का आश्रय लेकर निश्चय और व्यवहारनय में से किसी एक को मुख्य करके, दूसरे को गौण करना चाहिए और जब दूसरे को मुख्य करें तो प्रथम को गौण कर वस्तु स्वरूप को समझना चाहिए। तभी निमित्त और उपादान का भी सही स्वरूप समझ में आता है, अन्यथा नहीं।

श्री अमृतचंद्रसूरि ने कहा भी है कि—

एकेनाकर्षंती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अंतेन जयति जैनी नीतिर्मंथाननेत्रमिव गोपी।।225।।

जैसे ग्वालिन दधि मंथन करते समय हाथ में एक ओर की रस्सी को खींचती है तथा दूसरे हाथ की रस्सी को शिथिल करती है और इस प्रक्रिया से वह नवनीत निकाल लेती है इसी प्रकार से जैनशासन में एक नयदृष्टि (निश्चय) को मुख्य करके दूसरी नयदृष्टि (व्यवहार) को गौण कर दिया जाता है और जब दूसरी दृष्टि (व्यवहार) मुख्य होती है तब पहली दृष्टि (निश्चय) गौण हो जाती है। इससे दोनों ही दृष्टियों का महत्त्व समान है यह स्पष्ट हो जाता है।

3.4 अभ्यास प्रश्न —

प्रश्न 1-गौतम स्वामी ने अंतिम तीर्थंकर को नमस्कार क्यों किया ?

प्रश्न 2-बिना पुरुषार्थ किये कार्यसिद्धि में प्रधान निमित्त क्या है ?

प्रश्न 3-निमित्त की बलवत्ता का संक्षेप में विवेचन करिये ?

पाठ-4—भाग्य (दैव) और पुरुषार्थ

4.1 विश्व में विभिन्न वैचित्र्यपूर्ण जीव दृष्टिगोचर होते है। द्रव्य दृष्टि से अखिल जीव जगत् सूक्ष्मातिसूक्ष्म निगोदिया (वायरस) से लेकर पूर्ण विकसित मनुष्य तक ही नहीं परन्तु अनंत ज्ञान सम्पन्न अरिहंत सिद्ध, भगवान भी एक समान हैं। यहाँ प्रश्न होना स्वाभाविक है कि द्रव्य अपेक्षा तथा जातिय अपेक्षा सम्पूर्ण अनन्तानंत जीव एक समान होने पर भी उसमें आकार-प्रकार, शक्ति, बुद्धि, ज्ञान, आचारविचार में जो विभिन्नता परिलक्षित होती है। उसका कारण क्या है ? बिना कारण से क्या उनमें यह वैचित्र्यपूर्ण अन्तर हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं, बिना विभिन्न प्रकार के कारणों से विभिन्न कार्य होना असंभव है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव, नियमसार में संसारी जीव में जो विभिन्न प्रकार के आचार-विचार परिलक्षित होते हैं उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि-

''णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।''

अनेक प्रकार के जीव हैं एवं उनके-अनेक प्रकार के कर्म या दैव हैं। इसलिए उनके स्व-स्व दैवानुसार उनकी लब्धि भिन्न-भिन्न प्रकार होती है।

बहुत प्राचीन काल से ही भाग्य व पुरुषार्थ के पक्ष व विपक्ष में तर्क व वितर्क होते रहे हैं। कुछ व्यक्ति भाग्य को प्रबल मानते रहे हैं, तो कुछ पुरुषार्थ को, जबकि कुछ व्यक्ति इन दोनों के महत्त्व को समान रूप से स्वीकार करते हैं।

4.2 भाग्य व पुरुषार्थ हैं क्या ?

साधारणतया जब हम कोई कार्य सम्पन्न करने का प्रयत्न करते हैं, तब यदि हमको हमारे प्रयत्नों (पुरुषार्थ) के अनुसार ही फल मिलता है, तब हम उसको अपने पुरुषार्थ का फल मान लेते हैं। यदि अपने प्रयत्नों की तुलना में हमको अधिक फल मिल जाता है, तो हम उसको अपने अच्छे भाग्य (सौभाग्य) का फल मान लेते हैं। यदि हमारे प्रयत्नों की तुलना में हमको कम फल मिलता है या बिल्कुल ही फल नहीं मिलता, तो हम उसको अपने बुरे भाग्य (दुर्भाग्य) का फल मान लेते हैं।

इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि वह सुन्दर व स्वस्थ हो, उसके पास बहुत-सा धन हो, उसके पास सब प्रकार की सुख-सुविधाओं से युक्त एक सुन्दर-सा मकान हो, उसका जीवन-साथी (पति/पत्नी) सुन्दर स्वस्थ व बहुत अच्छे स्वभाव वाला हो। उसकी सन्तान स्वस्थ, सुन्दर, आज्ञाकारी, सुशील व सुयोग्य हो। उसके संबंधी, मित्र व सेवक विश्वसनीय तथा सुख-दुःख में साथ देने वाले हों। उसके पास आय के समुचित साधन हो। तात्पर्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति यही चाहता है कि वह सब प्रकार से सुखी हो। अनेकों व्यक्ति इस प्रकार का सुख पाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी करते हैं। परन्तु हम सबका तो यही अनुभव है कि अधिकांश व्यक्तियों को सदैव ही अपने प्रयत्नों (पुरुषार्थ) के अनुसार फल नहीं मिलता। अन्ततः इसका कारण क्या है ?

अपने प्रयत्नों के अनुसार फल न मिलने पर कुछ व्यक्ति अन्य व्यक्तियों पर दोषारोपण करने लगते हैं कि अमुक व्यक्ति ने उनके सुख और सफलता की प्राप्ति में बाधा डाल दी। परन्तु ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्येक प्राणी को अपने-अपने कर्मों के अनुसार ही सुख व दुःख तथा सफलता व असफलता मिलती है। जिन व्यक्तियों के माध्यम से ये सुख व दुःख तथा सफलता व असफलता मिलती है, वे तो केवल निमित्त मात्र ही होते हैं।

हम सब का यही अनुभव है कि इस संसार में अधिकांश व्यक्तियों को अपने प्रयत्नों के अनुसार ही फल नहीं मिलता। समान प्रयत्न करने वाले दो व्यक्तियों को भी एक समान फल नहीं मिलता। समान वातावरण और समान परिस्थितियों का भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता हैं हम प्रतिदिन ही ऐसे उदाहरण देखते हैं।

जैसे—एक कक्षा में बहुत से बालक पढ़ते हैं। अध्यापक सभी बालकों को एक जैसे ही पढ़ाते हैं। परन्तु उन

बालकों में से कुछ बालक अच्छे अंक प्राप्त करते हैं, कुछ बालक साधारण अंक प्राप्त करते हैं, जबकि कुछ बालक बहुत थोड़े अंक ही प्राप्त कर पाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि परिश्रम करने वाले बालक असफल ही रह जाते हैं और जो बालक अधिक परिश्रम नहीं करते, वे उत्तीर्ण हो जाते हैं।

समान योग्यता वाले दो डॉक्टरों में से एक को तो धन व यश दोनों ही प्राप्त हो जाते हैं, जबकि दूसरा डॉक्टर उतना सफल नहीं हो पाता। यही बात वकीलों, इंजीनियरों, चारटर्ड अकाउन्टेन्टों आदि के संबंध में भी देखी जाती है।

दो व्यापारियों की एक ही स्थान पर एक जैसी ही वस्तुओं की दुकानें होती हैं। उन व्यापारियों में से एक को तो अच्छी आय हो जाती है, जबकि दूसरा व्यापारी अपना खर्च भी कठिनाई से ही निकाल पाता है।

एक कार्यालय में समान योग्यता वाले दो व्यक्तियों की एक साथ ही नियुक्ति होती है-उनमें से एक तो उन्नति करते-करते उस कार्यालय का प्रबंधक बन जाता है, जबकि दूसरा व्यक्ति इतनी सफलता प्राप्त नहीं कर पाता।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि कम योग्यता वाला व्यक्ति तो जीवन में सफलता प्राप्त कर लेता है, जबकि अधिक योग्यता वाला व्यक्ति असफल ही रह जाता है।

कई बार ऐसा भी देखा जाता है कि कोई व्यक्ति किसी अनुसंधान में अपना सारा जीवन बिता देता है, परन्तु उसको सफलता नहीं मिलती, जबकि दूसरा व्यक्ति उसके परिश्रम के आधार पर थोड़े से परिश्रम से ही सफलता प्राप्त कर लेता है।

यदि हम अपने चारों ओर दृष्टि डालें, तो हमको ऐसे ही अनेकों उदाहरण मिल सकते हैं।

4.3 विषमताओं व विडम्बनाओं के कारण—

ये विषमताएं व विडम्बनाएं अचानक अर्थात् "संयोगवश" ही घटित नहीं होतीं। इनके पीछे कोई न कोई ठोस व तर्क सम्मत कारण होता है। तथ्य तो यह है कि प्राणियों के जीवन में पायी जाने वाली इन विषमताओं और विडम्बनाओं का मुख्य कारण उनके द्वारा भूतकाल में किये हुए कार्य ही हैं। हम इन विषमताओं व विडम्बनाओं को कर्म-फल कह लें या भाग्य कह लें, बात एक ही है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण देते हैं।

एक बालक एक बड़े भव्य महल में जन्म लेता है, जहाँ पर उसकी देख-रेख के लिए दास, दासियाँ व डॉक्टर आदि नियुक्त हैं तथा उसके लिए सब प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। एक दूसरा बालक सड़क के किनारे बने हुए टूटे-फूटे झोंपड़ें में जन्म लेता है, जहां पर उसको उपेक्षा व अभावों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिल पाता।

जो सज्जन केवल पुरुषार्थ के महत्त्व को ही स्वीकार करते हैं उनसे हम पूछते हैं कि पहले बालक ने क्या पुरुषार्थ किया था जो उसको सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हुईं। जहाँ पर उसकी देख-रेख के लिए दास, दासियाँ व डॉक्टर आदि नियुक्त हैं तथा उसके लिए सब प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध हैं। एक दूसरा बालक सड़क के किनारे बने हुए टूटे-फूटे झोंपड़ें में जन्म लेता है, जहां पर उसको उपेक्षा व अभावों से जूझना पड़ा ?

इन प्रश्नों के उत्तर "संयोगवश" नहीं है। हम पहले भी कह चुके हैं कि इस विश्व में संयोगवश कुछ नहीं होता। यहां जो कुछ भी घटित होता है उसके पीछे कोई न कोई तर्क सम्मत व ठोस कारण होता है। यदि केवल संयोगवश ही घटनाएं घटने लगें, तो इस विश्व का कोई नियम ही न रह जाये और सर्वत्र उथल-पुथल मच जाये।

इस विषमता का स्पष्ट उत्तर यही है कि पहले वाले बालक का भाग्य बहुत अच्छा था या कह लें कि उसने पिछले जन्मों में बहुत अच्छे कार्य किये थे जिसके फलस्वरूप उसको ये सुविधाएं उपलब्ध हुई तथा दूसरे वाले बालक का भाग्य खराब था या यह कह लें कि उसने पिछले जन्मों में बुरे कार्य किये थे जिसके फलस्वरूप उसको सब प्रकार के अभाव सहनें पड़ें। तथ्य यही है कि अपने-अपने अच्छे व बुरे भाग्य के फलस्वरूप ही उनका विभिन्न परिस्थितियों में

जन्म हुआ और विभिन्न परिस्थितियों में ही लालन-पालन हुआ।

एक दस-पन्द्रह वर्ष का बालक है। वह कोई भी कार्य (पुरुषार्थ) नहीं करता। फिर भी वह एक भव्य भवन में रहता है, अच्छे से अच्छे कपड़े पहनता है, मोटरों में घूमता है, स्वादिष्ट व पौष्टिक भोजन करता है। उसे अपने माता-पिता व अपने संबंधियों का भरपूर प्यार मिलता है। तात्पर्य यह है कि उसे सभी प्रकार के सुख व सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

एक दूसरा बालक है। उसकी आयु भी दस-पन्द्रह वर्ष की ही हैं वह किसी होटल, कारखाने या दुकान में या किसी के घर पर नौकरी करता है। वह दिन भर में तेरह, चौदह घंटे कठिन परिश्रम करता है, अपने स्वामी की गालियाँ और मार खाता रहता है, फिर भी उसको न पेटभर कर भोजन मिलता है, न तन ढ़कने को कपड़े और न सिर छिपाने को छत।

इन दोनों बालकों में क्या अन्तर है ? पहले बालक को बिना पुरुषार्थ किये ही जीवन की सभी सुविधाएं उपलब्ध हैं, परन्तु दूसरा बालक भरपूर पुरुषार्थ करते हुए भी जीवन की अति आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित रह जाता है।

आजकल के तथाकथित समाजवादी नेता इस विषमता के लिए समाज व्यवस्था को दोषी ठहरायेंगे और निर्धनों का शोषण करने के लिए धनवानों को गालियाँ सुना देंगे। परन्तु तथ्य यही है कि पहले वाले बालक का भाग्य अच्छा है और दूसरे वाले बालक का भाग्य खराब है।

एक धनवान का विवाहित युवा पुत्र किसी असाध्य रोग से ग्रस्त हो जाता है। अनेकों उपचार करने और लाखों रुपये व्यय करने के पश्चात् भी उसकी मृत्यु हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उस धनवान को तथा उसकी विधवा पुत्रवधू को बहुत ही अधिक मानसिक वेदना होती है और उसका सारा जीवन ही दु:ख के सागर में डूब जाता है। उनके इस दु:ख के लिए कौन उत्तरदायी है ?

इसी प्रकार किसी परिवार के कमाऊ सदस्य की मृत्यु हो जाती है, जिसके कारण उस परिवार के ऊपर दु:खों का पहाड़ टूट पड़ता है। उस परिवार के सदस्यों पर पड़े इस संकट के लिए कौन उत्तरदायी है ?

हम प्रतिदिन दुर्घटनाओं के समाचार पढ़ते हैं, जिनके फलस्वरूप अनेकों व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है तथा अनेकों व्यक्ति अपंग हो जाते हैं। इन व्यक्तियों के कष्टों के लिए कौन उत्तरदायी है ?

हम तो यही कहेंगे कि जैसा-जैसा किसी प्राणी का भाग्य होता है उसके अनुसार ही उस प्राणी को सुख व दु:ख भोगने पड़ते हैं।

4.4 विषमताओं के कुछ और उदाहरण—

एक कुत्ता एक धनी व्यक्ति के पास रहता है। उसकी देख-भाल के लिए एक सेवक नियुक्त है। उसको अच्छे से अच्छा स्वादिष्ट व पौष्टिक भोजन मिलता है। वह सर्दियों में गर्म कमरों में और गर्मियों में ठण्डे कमरों में घूमता रहता है। वह अपनी नींद सोता है और अपनी नींद जागता है। उसकी तनिक सी भी तबीयत खराब हुई नहीं कि डॉक्टर उपस्थित हो जाता है।

एक दूसरा कुत्ता है। खाज के कारण उसके शरीर में घाव हो रहे हैं। जिन पर मक्खियाँ बैठती हैं। उसकी एक टांग टूटी हुई है, इसलिए वह घिसटता हुआ चलता है। बच्चे उसको देखते ही पत्थर मारने लगते हैं, इसलिए वह एक स्थान पर आराम से बैठ भी नहीं सकता। उसके खाने-पीने का भी कोई ठिकाना नहीं है।

ऐसी ही विषमताएं हम घोड़ों, ऊँटों व अन्य पशु-पक्षियों में भी देखते हैं।

केवल पुरुषार्थ के महत्त्व को ही स्वीकार करने वाला सज्जन क्या इन विषमताओं का कारण बता सकेंगे ? हमारा उत्तर तो यही है कि पहले वाले कुत्ते का भाग्य अच्छा है, जिसके कारण उसको सब प्रकार की सुविधाएं मिली हुई हैं, जबकि दूसरे वाले कुत्ते का भाग्य खराब है, जिसके फलस्वरूप उसको इतने कष्ट झेलने पड़ रहे हैं।

हम यहाँ पर ऐसे व्यक्तियों को भी देखते हैं, जो साधारण पशुओं से भी बुरा जीवन जी रहे हैं और ऐसे पशुओं को भी देखते हैं जो साधारण मनुष्यों से भी बहुत अच्छा जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

एक बस दुर्घटना हो जाती है। उस दुर्घटना के कारण कुछ यात्रियों की मृत्यु हो जाती है। कुछ यात्री गंभीर रूप से घायल हो जाते हैं, कुछ यात्रियों के साधारण चोटें लगती हैं और कुछ यात्रियों का बाल भी बांका नहीं होता।

कहीं पर युद्ध होता है। उस युद्ध के फलस्वरूप अनेकों व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है, अनेकों व्यक्ति अपंग हो जाते हैं, अनेकों परिवार नष्ट हो जाते हैं, जबकि उसी युद्ध के कारण कुछ व्यक्ति समृद्धिशाली भी बन जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही घटना का विभिन्न व्यक्तियों पर विभिन्न प्रभाव पड़ता है।

4.5 इन सब विषमताओं का मूल कारण क्या है ?

हमारा उत्तर तो यही है कि ये विषमताएं "संयोगवश" घटित नहीं होती, अपितु जैसा-जैसा किसी प्राणी का भाग्य होता है, उसी के अनुसार उस प्राणी को सुख व दुःख भोगने पड़ते हैं।

हम सब का यह भी अनुभव है कि एक ही व्यक्ति कभी तो सुखी होता है और कभी दुःखी। इसी प्रकार एक व्यक्ति कभी तो उन्नति के शिखर पर होता है और कभी वह अवनति के अंधकार में डूब जाता है। इन तथ्यों को देखते ही कुछ सज्जन पूछते हैं कि क्या भाग्य थोड़े-थोड़े समय में बदलता रहता है ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि "निसंदेह, भाग्य थोड़े-थोड़े समय में बदलता रहता है।" एक व्यापारी है, उसको किसी वर्ष अधिक लाभ होता है, तो किसी वर्ष कम और किसी वर्ष तो हानि ही हो जाती है। यदि हम थोड़ी अवधि के हानि-लाभ पर विचार करें, तो हम पायेंगे कि किसी महीने में उस व्यापारी को अधिक लाभ होता है और किसी महीने में कम। और भी थोड़ी अवधि के हानि-लाभ को देखें, तो हम पायेंगे कि किसी दिन उसको अधिक लाभ होता है और किसी दिन कम। एक दिन के दौरान भी हम देखें, तो पायेंगे कि किसी घंटे में उस व्यापारी को अधिक लाभ हुआ और किसी घंटे में कम। यह तो हम सब का अनुभव है कि एक व्यापारी कभी तो दिन के अधिकांश समय में खाली बैठा रहता है और कभी एक-दो घंटे में ही उसकी बहुत बिक्री हो जाती है। इसका अर्थ यही हुआ कि जिस समय व्यापारी का भाग्य अच्छा होता है, उसकी बिक्री अधिक हो जाती है और जिस समय उस व्यापारी का भाग्य अच्छा नहीं होता, उसकी बिक्री कम होती है या बिल्कुल नहीं होती।

इसी प्रकार हम डाक्टरों, वकीलों व अन्य व्यवसाइयों के संबंध में भी अच्छे व बुरे तथा थोड़े-थोड़े समय में बदलते हुए भाग्य का फल देख सकते हैं।

यहां शंका यह उठती है कि यह तो व्यापारियों व व्यवसाइयों की बात हुई, किन्तु जो व्यक्ति स्थाई नौकरी करते हैं, उनके अच्छे व बुरे तथा बदलते हुए भाग्य के संबंध में हमें क्या कहना है ? इस संबंध में निवेदन है कि अच्छे व बुरे भाग्य का फल केवल आर्थिक लाभ या हानि तक ही सीमित नहीं होता, अपितु अच्छे व बुरे भाग्य का फल जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में देखा जा सकता है। जैसे कि नौकरी करने वाले व्यक्ति का स्वयं का व उनके परिवार के सदस्यों का स्वास्थ्य कैसा रहता है ? उनकी पत्नी, सन्तान व अन्य संबंधी कैसे स्वभाव के हैं ? उनके घर का वातावरण कैसा रहता है (क्लेश का अथवा शांति का) ? कार्यालय में उनके अपने अधिकारियों व अन्य सहकर्मियों से कैसे संबंध हैं ? उनको पदोन्नति के अवसर मिलते हैं या नहीं ? इत्यादि। जिस समय भाग्य अच्छा होता है, उस समय ये सब अनुकूल रहते हैं। इसके विपरीत जब भाग्य बुरा होता है, तो इनमें से सब या कुछ प्रतिकूल हो जाते हैं।

इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि अनेकों बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं का अन्त कितनी बुरी परिस्थितियों में हुआ है। भारत वर्ष के मुगल बादशाह शाहजहाँ को अपने ही एक बेटे के आदेश पर अपने जीवन के अंतिम बीस वर्ष जेल में व्यतीत करने पड़े। उनके अन्य बेटों की हत्या कर दी गयी। भारत के अंतिम मुगल बादशाह बहादुर शाह जफर

के बेटों व पोतों की उनकी आँखों के सामने हत्या कर दी गयी और उनको अपना अंतिम समय वर्मा में अंग्रेजों की जेल में व्यतीत करना पड़ा। आज तो यह साधारण बात हो गयी है कि जब भी किसी देश का शासन बदलता है, तो पिछले शासन के अधिकारियों को, चाहे वे कितने ही उच्च पद पर हों, परेशान किया जाता है और कभी-कभी तो अपने विरोधियों की हत्या तक कर दी जाती है इतिहास साक्षी है कि अनेकों राजा-महाराजाओं की अपनी भाई-बंधुओं के द्वारा ही हत्या की गयी।

ऐसे ही बदलते हुए दिन हम अनेकों विद्वानों, बुद्धिजीवियों, कलाकारों, व्यापारियों व व्यवसाइयों आदि के जीवन में भी देखते हैं। (यह कोई स्थाई नियत नहीं है, परन्तु अनेकों व्यक्तियों के जीवन में ऐसी स्थिति अवश्य ही आ जाती है।)

पुरुषार्थवादी यही कहेंगे कि ऐसा 'संयोगवश'' तथा ''परिस्थितियाँ बदलने'' के कारण हो जाता है। परन्तु यह ठीक नहीं है। ''संयोगवश'' के संबंध में तो हम कह ही चुके हैं। जहाँ तक ''परिस्थितियाँ'' बदलने का प्रश्न है, क्या हम पूछ सकते हैं कि परिस्थितियाँ कुछ ही व्यक्तियों के विरुद्ध क्यों बदलीं ? सभी व्यक्तियों के विरुद्ध क्यों नहीं बदलीं ? व्यक्ति वहीं है उनकी योग्यताएँ व पुरुषार्थ भी लगभग वैसे ही हैं, फिर भी उनको असफलताएँ क्यों मिलीं ?

हमारा स्पष्ट उत्तर तो यही है कि जब उनका भाग्य अच्छा था, तब वे सफलताएँ प्राप्त कर रहे थे और उन्नति के शिखर पर थे, परन्तु जब उनका भाग्य बुरा आया, तो वे असफलता के अंधकार में विलीन हो गये। प्राय: व्यक्तियों को यह कहते हुए सुना जाता है कि आज का दिन बहुत अच्छा बीता या यह महीना बहुत बुरा गुजरा। यह सब थोड़ी-थोड़ी देर में बदलते हुए भाग्य के फलस्वरूप ही तो होता है।

आजकल के तथाकथित प्रगतिशील कहे जाने वाले व्यक्ति कहने को तो यही कहते हैं कि भाग्य से कुछ नहीं होता, यह तो केवल झूठी तसल्ली देने का एक बहाना मात्र है तथा यह शोषित वर्ग को ऊपर न उठने देने के लिए षडयंत्र है। परन्तु जब स्वयं उनके ऊपर कोई कष्ट आ पड़ता है या अनेकों प्रयत्न करने पर भी उनकी इच्छा के अनुकूल कोई कार्य नहीं होता, तब अपने मन में वे भी यही कहते हैं— ''दुर्भाग्य से ऐसा ही होना था, किस्मत को ऐसा ही मंजूर था।''

अन्ततः इन विषमताओं व विडम्बनाओं का कारण क्या है ? कारण यही है कि जिस समय जैसा हमारा भाग्य होता है, उस समय हमें वैसा ही फल मिलता है।

भाग्य के लिए अंग्रेजी भाषा के Fortune, Luck आदि शब्द हैं, उर्दू भाषा में किस्मत, मुकद्दर, नसीब आदि शब्द हैं, हिन्दी भाषा में विधि, दैव, अदृष्ट, नियति, भावी, प्रारब्ध, होनी आदि शब्द हैं। इसी प्रकार संसार के विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में ऐसे शब्द हैं, जिनका अर्थ भाग्य है। संसार के विभिन्न देशों में ''भाग्य'' के अर्थों के समान शब्दों की उत्पत्ति इसीलिए हुई, क्योंकि वहाँ पर ''भाग्य'' को किसी ने किसी रूप में माना जाता होगा।

4.6 ''भाग्य'' है क्या? और यह कैसे बनता है ?

वास्तविकता तो यह है कि भाग्य किसी तथाकथित विधाता अथवा किसी सर्वशक्तिमान परमेश्वर के द्वारा अपनी इच्छा से ही लिखा हुआ कोई अमिट लेख नहीं होता, जिसको प्रत्येक प्राणी को अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है। इसके विपरीत तथ्य तो यह है कि हमारा भाग्य हमारे द्वारा भूतकाल में किये हुए हमारे अपने ही पुरुषार्थ का फल है। (भूतकाल से हमारा तात्पर्य उस काल से है जो वर्तमान क्षण से पहले व्यतीत हो चुका है, चाहे वह समय वर्तमान क्षण से कुछ ही क्षण पहले हो, चाहे घंटे-दो-घंटे, महीने-दो महीने अथवा दस-बीस साल पहले हो या हमारे पिछले जन्मों का समय हो-यह सारा समय भूतकाल के अन्तर्गत ही आता है। अच्छा पुरुषार्थ अच्छा भाग्य बनाता है और बुरा पुरुषार्थ बुरा भाग्य बनाता है। हमें स्वयं अपने ही द्वारा किये हुए पुरुषार्थ का ही फल मिलता है। किसी अन्य प्राणी के किये हुए पुरुषार्थ का फल हमें कभी नहीं मिल सकता।

भाग्य और पुरुषार्थ को हम इस उदाहरण के द्वारा भी समझ सकते हैं । आजकल नये बनाये हुए मकानों के ऊपर पानी की टंकियाँ बनायी जाती हैं, जिनमें बिजली के पम्प द्वारा पानी भर लिया जाता है। नगर पालिका द्वारा दिया जा रहा पानी आये या न आये, परन्तु हमारे द्वारा टंकी में भरा हुआ पानी हमें हर समय उपलब्ध रहता है। टंकी में पानी भरना हमारे पुरुषार्थ के समान है और वह पानी हमें हर समय उपलब्ध रहना हमारे भाग्य के समान है।

4.7 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-भाग्य व पुरुषार्थ से क्या आशय है ?

प्रश्न 2-संसार में दृष्टिगत विषमताओं का क्या कारण है ?

प्रश्न 3-भाग्य का निर्माण किस प्रकार होता है ?

प्रश्न 4-भाग्य और पुरुषार्थ को उदाहरण द्वारा समझाइये ?

पाठ-5—पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता

5.1 अच्छा भाग्य हमारे अच्छे पुरुषार्थ का ही फल है, अतः हमें सदैव अच्छा पुरुषार्थ ही करते रहना चाहिए। परन्तु हम भाग्य के भरोसे ही नहीं बैठे रहें। यदि हमारा भाग्य अच्छा है, तो हमें उसका अच्छा फल अवश्य ही मिलेगा। परन्तु यदि हमारा भाग्य अच्छा नहीं है, तो भी हमें अपने द्वारा वर्तमान में किये जा रहे अच्छे पुरुषार्थ का कुछ न कुछ अच्छा फल तो अवश्य ही मिलेगा। हमें यह समझ लेना चाहिए कि हमारे किये हुए पुरुषार्थ का एक अंश भी व्यर्थ नहीं जाता। हमें उसका शत-प्रतिशत फल मिलता है। परन्तु वह कब और किस रूप में मिलता है, (अल्पज्ञ होने के कारण) यह हम नहीं जान पाते।

इसके साथ-साथ हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हमें किसी भी स्थिति में भाग्य के भरोसे नहीं बैठे रहना चाहिए। जो व्यक्ति भाग्य के भरोसे बैठे रहते हैं, वे किसी आकस्मिक सहायता की प्रतीक्षा करते बैठे रहते हैं और उनके लिए अपना लक्ष्य प्राप्त करना असंभव नहीं, बहुत कठिन अवश्य ही हो जाता है। भाग्य के आश्रय बैठे रहना तो स्वयं ही अपने विनाश को बुलावा देने जैसा ही है क्योंकि हमें यह तो पता ही नहीं होता कि हमारे भाग्य में क्या है ? पुरुषार्थ करने वाली चींटी धीरे-धीरे चली हुई भी मीलों दूरी तय कर लेती हैं। परन्तु भाग्य के भरोसे बैठे रहने वाला गरुड़ पक्षी (यह पक्षी बहुत तेज उड़ता है) एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता।

वर्तमान में हमारा पुरुषार्थ यही होना चाहिए कि भूतकाल में किये हुए अपने अच्छे व बुरे पुरुषार्थ का फल हम समतापूर्वक भोगते रहें (बुरा फल मिलने पर हम हाय-हाय न करें और अच्छा फल मिलने पर हम गर्व न करें।)

इसके साथ-साथ हम इतना ध्यान अवश्य रखें कि हमारे लक्ष्य अच्छे हों और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के साधन भी अच्छे हों। हमारे कार्यों से किसी भी प्राणी को प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी भी प्रकार का कष्ट मिलने की संभावना न हो। हम सदैव दूसरे प्राणियों की भलाई करते रहने की भावना और तदनुसार प्रयत्न करते रहें। यह भी संभव है कि हमारा वर्तमान का अच्छा पुरुषार्थ हमारे भूतकाल में किये हुए बुरे पुरुषार्थ के फलस्वरूप मिलने वाले बुरे फल की तीव्रता ही कुछ कम कर दे।

इस प्रकार ऊपर किये गये विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में भाग्य व पुरुषार्थ दोनों का ही समान महत्त्व है। परन्तु हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि हमारा वर्तमान का पुरुषार्थ ही हमारे भविष्य का भाग्य निर्माता है।

5.2 अच्छा पुरुषार्थ व बुरा पुरुषार्थ—

अच्छे व बुरे पुरुषार्थ का अन्तर बतलाने के लिए हम कुछ उदाहरण देते हैं—

(1) सैनिक अपने देश व देशवासियों की रक्षा करने के लिए शत्रुओं से युद्ध करने जाते हैं। युद्ध में हर समय उनकी जान जोखम में रहती है। युद्ध में कुछ सैनिक मर भी जाते हैं और कुछ सैनिक घायल व अपंग भी हो जाते हैं।

दूसरी ओर चोर व डाकू चोरी करने व डाका डालने के अभिप्राय से जाते हैं। उनकी जान भी हर समय जोखम में रहती है। केवल चोरी करते व डाका डालते हुए ही नहीं, अपितु उनके मन में हर समय ही यह भय रहता है कि कहीं पुलिस उनको पकड़ न ले तथा कहीं पुलिस से उनकी मुठभेड़ न हो जाये।

सैनिक भी और चोर व डाकू भी सभी अपनी-अपनी जान जोखिम में डालते हैं। देखा जाये, तो ये भी सभी एक जैसा ही पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु सैनिक का पुरुषार्थ अच्छा पुरुषार्थ माना जाता है, जबकि चोरों व डाकुओं का पुरुषार्थ बुरा पुरुषार्थ माना जाता है। इन सबको अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार ही अच्छा व बुरा फल मिलता है। यह तो सर्वविदित ही है कि सैनिकों का सर्वत्र सम्मान किया जाता है और उनको पुरस्कार दिये जाते हैं, जब कि चोरों व डाकुओं का सब जगह अपमान किया जाता है और उन्हें दण्ड दिया जाता है।

इसी प्रकार विद्यालयों के कुछ शिक्षक अपनी नियमित कक्षाओं में तो जानबूझकर समुचित पढ़ाई नहीं कराते और जब विद्यार्थी पढ़ाई में पिछड़ जाते हैं तो वे शिक्षक उन विद्यार्थियों को ट्यूशन से पढ़ाते हैं, जिससे उनको पर्याप्त आय हो जाती है। शिक्षकों का यह व्यवहार बुरा पुरुषार्थ माना जायेगा।

इसी प्रकार कुछ सरकारी कर्मचारी जनता के प्रति अपना कर्त्तव्य नहीं निभाते। वे जन साधारण को जानबूझकर परेशान करते हैं जिससे उन्हें रिश्वत लेने के अवसर मिल सकें। क्योंकि जितना अधिक वे जनता को परेशान करेंगे, उनको उतनी ही अधिक रिश्वत मिलने की संभावना होगी। यह भी बुरा पुरुषार्थ है।

यदि हम अपने अच्छे लक्ष्य प्राप्त करने के लिए भी बुरे साधन अपनाने लगें, तो हजारों वर्षों से प्रतिष्ठित जीवन-मूल्यों का ह्रास हो जायेगा, समाज का नैतिक पतन हो जायेगा और भ्रष्टाचार अपनी चरम-सीमा पर पहुँच जायेगा, जिसके बुरे परिणाम केवल कुछ व्यक्तियों को ही नहीं, अपितु समस्त देश को भुगतने पड़ेंगे। यदि हमें ऐसी परिस्थितियों से बचना है, तो यह नितान्त आवश्यक है कि हमारे लक्ष्य अच्छे होने के साथ-साथ उनको प्राप्त करने के साधन भी अच्छे ही हों।

हमें यह भली प्रकार समझ लेना चाहिए कि झूठ की पगडंडियों के द्वारा सत्य के लक्ष्य पर कभी नहीं पहुँचा जा सकता।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि मनुष्य केवल भाग्य के हाथ की कठपुतली मात्र नहीं है। वर्तमान में हम जो कार्य कर रहे हैं, उस पर हमारा स्वयं का नियत्रंण है। चाहे कैसी भी परिस्थितियाँ हों, हम अच्छे साधन भी अपना सकते हैं और बुरे भी। यह हमारे ज्ञान व विवेक पर निर्भर करता है कि हम कैसे साधन अपनाते हैं।

इसी प्रकार भूतकाल में किये हुए अच्छे कर्मों के फलस्वरूप यदि किसी व्यक्ति को धन प्राप्त होता है, तो भाग्य उसको यह नहीं कहता कि यह धन अच्छे कार्यों में खर्च कर या बुरे कार्यों में। यह निर्णय तो वह व्यक्ति स्वयं ही अपने ज्ञान व विवेक से करता है कि वह उस धन को किन कार्यों पर खर्च करे। वह उस धन को परोपकार में भी खर्च कर सकता है, वह उस धन को अपनी और अपने परिवार वालों की आवश्यकताओं पर भी खर्च कर सकता है, वह उस धन को मदिरापान, मांस-भक्षण, व्यभिचार तथा अन्य बुरे कार्यों पर भी खर्च कर सकता है। हाँ, जिन भावनाओं से और जिन कार्यों पर वह धन को खर्च कर रहा है, यही उसका अच्छा व बुरा पुरुषार्थ है, जिसका अच्छा व बुरा फल उसको अनिवार्यरूप से भोगना पड़ेगा।

प्रत्येक व्यक्ति को उसके अपने द्वारा भूतकाल में किये हुए बुरे कार्यों के फलस्वरूप ही कष्ट मिलता है। यह उस व्यक्ति के ज्ञान व विवेक पर निर्भर करता है कि वह उस कष्ट को किस प्रकार सहन करता है। वह उस कष्ट को अपने ही द्वारा किये हुए बुरे कार्यों का फल जानकर समता व धैर्यपूर्वक भी सह सकता है, वह उस कष्ट को हाय-हाय करके और शोर-मचाकर भी सह सकता है, तथा वह उस कष्ट को किसी अन्य व्यक्ति (जिसके निमित्त से वह कष्ट मिला है) के द्वारा दिया हुआ समझकर, उस व्यक्ति के प्रति अपने मन में दुर्भावनाएं उत्पन्न करता हुआ भी सह सकता है। कष्ट तो उसको अनिवार्यरूप से सहना पड़ेगा ही। हाँ, कैसी भावनाओं के साथ वह व्यक्ति यह कष्ट सहता है, यही उसका अच्छा व बुरा पुरुषार्थ है। जैसी भावनाओं के साथ वह व्यक्ति यह कष्ट सहेगा। उन्हीं भावनाओं के अनुसार उसके नये कर्मों का संचय होगा, जिनका अच्छा व बुरा फल उसको भविष्य में भोगना पड़ेगा।

5.3 पुरुषार्थ की अंतिम विजय—

अनादिकाल से अनन्त सुपुरुषार्थ सम्पन्न जीव प्रबल दैव के आधीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जब तक असम्यक् पुरुषार्थ का सिलसिला चलता रहेगा तब तक दैव की प्रचण्ड शक्ति जीव के ऊपर अनुशासन करती रहेगी। जब यह चैतन्य अनंत वीर्य युक्त आत्मा अपने पुरुषार्थ को सम्यक् रूप में परिवर्तित करके जागृत होगी, तब दैव

की शक्ति क्षीण होती जायेगी, जैसे घना अंधकार भी प्रचण्ड रश्मि के धारी सूर्य के उदय से विध्वंस हो जाता है उसी प्रकार सम्यक्-पुरुषार्थ के माध्यम से दैव की शक्ति विध्वंस हो जाती है।

सम्यक्त्वी का शुभपुरुषार्थ संसार का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान (भाग्य के अधीन में रहने की इच्छा) नहीं करता है, तो वह भाग्य परम्परा से मोक्ष के हेतु होता है।

जितने अंश में सम्यक्त्वपना (पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बंधन) नहीं है और जितने अंश में मिथ्यात्व (असत् पुरुषार्थ) है, उतने अंश में भाग्याधीन बंधन है।

जितने अंश में सम्यग्ज्ञान रूप पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बंधन) नहीं है और जितने अंश में अज्ञानरूप असत् पुरुषार्थ है उतने अंश में भाग्याधीन बंधन है।

जितने अंश में सम्यक्चारित्र रूप पुरुषार्थ है। उतने अंश में भाग्य की पराधीनता (बंधन) नहीं है और जितने अंश में असम्यक् रूप चारित्र (कुचारित्र) है उतने अंश में दैवाधीन (बंधन) है।

उपरोक्त सिद्धान्तों से अवगत होता है कि यह संसारी जीव अनादिकाल से दैवाधीन है। जब तक आत्मविश्वास, वीतराग-विज्ञान एवं स्व में रमण करने रूप प्रचण्ड पुरुषार्थ को नहीं करता है तब तक वह दैव के अधीन रहता है। जब स्वयं में निहित सुसुप्तशक्तियों को उजागर करके आत्मविश्वास, स्वपर विवेक करके, दैविक शक्ति को नष्ट करने के लिए एवं स्वशक्ति को विकसित करने के लिए पुरुषार्थ करता है, तब दैविक शक्ति क्षीण से क्षीणतर, क्षीणतम होते हुए पूर्ण रूप से विलीन हो जाती है।

5.4 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-"पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता है" इस कथन की विशद विवेचन करिये ?

प्रश्न 2-अच्छे व बुरे पुरुषार्थ को उदाहरण सहित समझाइए ?

इकाई–4 जैनदर्शन में नय व्यवस्था

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) जैनदर्शन में नय व्यवस्था व नय के भेद

(2) शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय

(3) अध्यात्म भाषा में नय व्यवस्था

(4) कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?

(5) ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली

पाठ-1–जैन दर्शन में नय व्यवस्था व नय के भेद

भारतीय दर्शन में प्रमाण और नय संबंधी विवक्षा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती है। नय के संबंध में सूक्ष्म एवं महत्त्वपूर्ण विचार जैनदार्शनिकों ने किया है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

पदार्थ का यथार्थ समग्ररूपेण ज्ञान जिससे होता है वह प्रमाण है और जो प्रमाण से जाने हुए पदार्थों के एक अंश को जाने उसे नय कहते हैं। वक्ता की विवक्षा विशेष को नय कहते हैं। यह पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप का द्योतक न होकर उसके किसी धर्म विशेष का यथार्थरूप से ज्ञान कराता है।

1.1 नय का लक्षण—

प्रमाण के द्वारा सम्यक् प्रकार से ग्रहण की गई वस्तु के एक अंश अर्थात् धर्म को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है अथवा श्रुतज्ञान के विकल्प को नय कहते हैं। ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं। अथवा जो नाना स्वभावों से हटाकर किसी एक स्वभाव में वस्तु को ले जाता है वह नय है।

प्रत्येक नय सापेक्ष रहकर ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सत्ता को बनाये रखने में समर्थ होता है, किन्तु निरपेक्ष होने पर कथंचित् वस्तु के अस्तित्व के ही द्योतक हो जाते हैं एवं दुर्नय बन जाते हैं। सापेक्षता ही नय का प्राण है। आ. सिद्धसेन के अनुसार—वे सभी नय मिथ्या हैं जो अपने ही पक्ष का आग्रह करते हैं, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते हैं तब सम्यक् होते है।

1.2 नय के भेद—

मूलतः नय के दो भेद जैनाचार्यों ने किये हैं—प्रथम द्रव्यार्थिक या निश्चय नय, द्वितीय पर्यायार्थिक या व्यवहार नय।

1.2.1 द्रव्यार्थिक नय—जो पदार्थ के शाश्वत, अबाधित एवं प्रमाण सिद्ध स्वरूप का कथन करता है और जो पदार्थ के यथार्थ त्रिकाली स्वभाव या उपादान की मुख्यता करके कथन करता है वह द्रव्यार्थिक या निश्चय नय कहलाता है। निश्चय को आगम में भूतार्थ कहा गया है, क्योंकि वह जीव के त्रिकाली शुद्ध टंकोत्कीर्ण स्वभाव को ही अपना विषय स्वीकार करता है। परन्तु वर्तमान विकारी पर्याय की भी सर्वथा उपेक्षा न कर उसे गौणरूप में स्वीकारता है। शुद्ध दशा को प्रगट करने के लिए पुरुषार्थ करने की ओर प्रेरित करता है।

1.2.2 पर्यायार्थिक नय—जो वस्तु में सदाकाल परिवर्तित होने वाली गुण विशेष अर्थात् पर्याय को अपना विषय बनाते है। अथवा संयोगी पर्याय या निमित्त को जो प्रधान कर कथन करता है उसे पर्यायार्थिक या व्यवहार नय कहते हैं। व्यवहार नय कर्म के संबधं से होने वाली वर्तमान अशुद्ध पर्याय का दिग्दर्शन करता है, यह नय जीव की पूर्ण शुद्ध दशा को गौण कर वर्तमान समय में होने वाली विकारी पर्याय को अपना मुख्य विषय बनाता है।

शक्ति की अपेक्षा आत्मा पूर्ण शुद्ध है किन्तु वर्तमान समय में उसकी जो रागद्वेषादिरूप विभाव परिणति हो रही है इसका कारण उसके साथ रहने वाला द्रव्य कर्म, जिसके कर्मरूप परिणत हुए पुद्‌गल परमाणु आत्मा की (रागद्वेषादिरूप) विभाव परिणति से आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रह रहे हैं, इस कथन को पर्यायार्थिक नय स्वीकार करता है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद हैं—

नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय। पर्यायार्थिक नय के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ नय तथा एवंभूत नय।

1. नैगमनय—जो नय पदार्थ में उत्पन्न होने वाले अथवा उत्पन्न हो चुकने वाले संकल्प को वर्तमान समय में ग्रहण करता है, उसे नैगमनय कहते हैं। यह पदार्थ में भूतकाल में उत्पन्न हुई एवं भविष्यत् काल में उत्पन्न होने वाली पर्यायों की अपेक्षा वर्तमान पदार्थ को उस रूप कहता है। इसकी अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं—

भूत नैगमनय—जो नय भूतकाल संबंधी पर्याय को वर्तमान काल में आरोपण करके संस्थापन करके कहता है, उसको भूत नैगमनय कहते हैं। जैसे आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये।

भावी नैगम नय—जो नय आगामी काल भविष्य में होने वाली पर्याय को वर्तमान काल में कथन करता है। भावी नैगम नय हैं। जैसे-श्री अरहंत भगवान अभी सिद्ध नहीं हैं, आगामी काल में होवेंगे। उन अरहन्त भगवान को जो नय सिद्धरूप से कथन करता है, वह भावी नैगमनय है।

वर्तमान नैगमनय—प्रारंभ किये गये किसी कार्य को ईषत् निष्पन्न (थोड़ी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिल्कुल नहीं बनी हुई) वस्तु को पूर्ण कह देना वर्तमान नैगम नय है। जैसे-पुरुष भात बनाने की सामग्री इकट्ठी कर रहा था, किसी ने पूछा—क्या कर रहे हो ? तो कहता है कि भात बना रहा हूँ।

2. संग्रह नय—जो नय विशेष की उपेक्षा कर सामान्यरूप में पर्याय को ग्रहण करता है, उसे संग्रह नय कहते हैं—जैसे—सत् कहने से छहों द्रव्यों को ग्रहण करना।

3. व्यवहार नय-संग्रह नय के द्वारा सामान्यरूप से ग्रहण किये गये पदार्थों को जो भेदरूप से ग्रहण करता है, उसे व्यवहारनय कहते हैं। यह नय तब तक भेद करता जाता है, जहां तक ये किये जा सकते हैं। जैसे—सत् करने पर समस्त द्रव्य संग्रहीतरूप से कहे जा सकते हैं परन्तु व्यवहारनय उन्हें छः द्रव्यरूप भेदों में बांटेगा।

पर्यायार्थिक नय के भेद—

1. ऋजुसूत्रनय—जो नय मात्र वर्तमान समय की पर्याय को ग्रहण करता है, उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं। इसके दो भेद हैं-

सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय—जो नय वर्तमान एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

स्थूल ऋजुसूत्र नय—जो नय किसी निश्चित काल तक रहने वाली पर्याय को वर्तमान समय में स्वीकार करके उसे अपना विषय बनाता है, उसे स्थूल ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

जैसे—मनुष्य की पर्याय को अपना विषय बनाना। यद्यपि मानव शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है किन्तु इस परिवर्तन की उपेक्षा कर एक निश्चित काल तक रहने की अपेक्षा वह स्थूल ऋजुसूत्रनय का विषय है।

2. शब्दनय—जो लिंग कारक एवं वचन की अपेक्षा शब्दों को अलग मानता है, उसमें भेद करता है उसे शब्द नय कहते हैं। जैसे—दारा, स्त्री, कलत्र यद्यपि ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं किन्तु शब्द नय इन तीनों में लिंग की दृष्टि से भेद स्वीकार करता है। इस नय के अनुसार दारा पुल्लिंग का, स्त्री शब्द स्त्रीलिंग का एवं कलत्र शब्द नपुंसक लिंग का है। अतः एकार्थवाची होते हुए भी भिन्न-भिन्न हैं।

3. समभिरूढ नय—जो नय किसी शब्द विशेष के अन्वय या निरुक्ति आदि अर्थ को ग्रहण न कर रूढ़ अर्थात् प्रचलित अर्थ को ही ग्रहण करता है, उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं। जैसे—पंकज, इसका निरुक्ति अर्थ 'पंक' अर्थात् कीचड़ 'ज' अर्थात् उत्पन्न होने वाला। चूँकि कमल एवं सिंघाड़ा दोनों कीचड़ में उत्पन्न होते है। अतः पंकज शब्द कहने से दोनों का बोध होना चाहिए। किन्तु यह नय पंकज शब्द के रूढ़ अर्थ कमल को ही स्वीकार करता है कि न पूर्णतः उसके निरुक्ति अर्थ का।

4. एवंभूत नय—जो क्रिया जिस अर्थ में व्यवहृत होती है, उसे उस रूप में ही स्वीकार करने वाले नय को एवंभूत नय कहते हैं। जैसे—किसी मनुष्य को उसी समय पुजारी कहना जब वह पूजा कर रहा हो।

1.3 सातों नयों के विषय समझने के लिए उदाहरण—

(1) किसी मनुष्य को शिकारी (हिंसक) लोगों का समागम करते हुए देखकर नैगमनय से कहा जाता है कि यह पुरुष नारकी है।

(2) जब वह मनुष्य प्राणीवध करने का विचार कर सामग्री संग्रह करता है, तब वह संग्रह नय से नारकी है।

(3) जब कोई मनुष्य हाथ में धनुष और बाण लेकर मृगों की खोज में भटकता फिरता है, तब उसे व्यवहारनय से नारकी कहा जाता है।

(4) आखेट स्थान पर बैठकर मृगों पर आघात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त वह शिकारी ऋजुसूत्र नय से नारकी कहा जाता है।

(5) जब जीव प्राणों से विमुक्त कर दिया जाता है, तभी वह घात करने वाला हिंसा कर्म से संयुक्त शिकारी शब्दनय से नारकी कहा जाता है।

(6) जब मनुष्य के नरक (गति व आयु) कर्म का बंध होकर नारक कर्म से संयुक्त हो जाये, तभी वह समभिरूढ़ नय से नारकी कहा जाता है।

(7) जब वही मनुष्य नरक गति में पहुँचकर नरक के दुःख अनुभव करने लगता है, तभी वह एवंभूत नय से नारकी कहा जाता है।

1.4 आलाप पद्धति के अनुसार नय के मूल भेद—

णिच्छयववहारणया मूलमभेया णयाण सव्वाणं।
णिच्छयसाहणहेऊ दव्वयपज्जत्थिया मुणह।।4।।

सम्पूर्ण नयों के निश्चयनय और व्यवहारनय ये दो मूल भेद हैं। निश्चय का हेतु द्रव्यार्थिक नय है और साधन अर्थात् व्यवहार का हेतु पर्यायार्थिकनय है।

इसी की टिप्पणी में निश्चयनयाः = द्रव्यस्थिताः। व्यवहारनयाः = पर्यायस्थिताः ऐसा कहा है अर्थात् निश्चयनय द्रव्य में स्थित है और व्यवहारनय पर्याय में स्थित है। इसी बात को श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं—

व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वात्...। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्...।

यहाँ पर व्यवहारनय पर्याय के आश्रित होने से पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीव के औपाधिक भाव का अवलंबन लेकर प्रवृत्त होता है। इसलिये वह दूसरे के भावों को दूसरे का कहता है किन्तु निश्चयनय द्रव्य के आश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भाव का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है अतः वह परभावों को पर के कहता है और उन सबका निषेध करता है।"

अन्यत्र भी यही सूचना है—यथा—

द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च।
तत्र न खल्वेकन-यायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता ।

भगवान ने दो नय कहे हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। इनमें से भगवान का उपदेश एक नय के आश्रित नहीं है किन्तु उभयनय के ही आश्रित है।

धवला में भी कहते हैं—

'तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिकनय है और उन्हीं के वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिकनय है। शेष सभी ाय इन दोनों नयों के विकल्प अर्थात् भेद हैं।''

इसलिए निश्चय-व्यवहारनयों को अच्छी तरह समझने के लिये सर्वप्रथम द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय को समझ लेना भी आवश्यक हो जाता है। आलाप पद्धति में श्री देवसेन आचार्य ने नयों और उपनयों का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। न अति संक्षेप और न अति विस्तार से, वह विवेचन अवश्य ही हृदयंगम करने योग्य है। उसमें द्रव्यार्थिकनय के 10, पर्यायार्थिकनय के 6, नैगमनय के 3, संग्रहनय के 2, व्यवहारनय के 2, ऋजुसूत्रनय के 2, शब्दनय का 1, समभिरूढ़नय का 1 और एवंभूतनय का 1, ऐसे सब 28 भेद हो जाते हैं। यहाँ पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का लक्षण व उनके भेदों को देखिये—

1.5 अन्य अपेक्षा से द्रव्यार्थिकनय के दश भेद—

द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः।

द्रव्य ही है अर्थ—प्रयोजन—विषय जिसका वह द्रव्यार्थिकनय है। इसके 10 भेद हैं—

1. कर्मोपाधि से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्य को विषय करने वाला 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय' है जैसे—संसारी जीव सिद्ध सदृश शुद्धात्मा है।

2. उत्पाद-व्यय को गौण करके सत्तामात्र को ग्रहण करने वाला 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नय' है जैसे—द्रव्य नित्य है।

3. भेदकल्पना से निरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है जैसे—निजगुण, निजपर्याय और निजस्वभाव से द्रव्य अभिन्न है।

4. कर्मोपाधि की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है जैसे—कर्मजनित क्रोधादिभावरूप आत्मा है।

5. उत्पाद-व्यय से सापेक्ष को ग्रहण करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय होता है। जैसे—एक ही समय में द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप है।

6. भेद कल्पना से सापेक्ष द्रव्य को विषय करने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। जैसे—आत्मा के ज्ञान-दर्शन आदि गुण हैं।

7. अन्वय सापेक्ष द्रव्य को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है। जैसे—गुणपर्याय स्वभाव द्रव्य है।

8. स्वद्रव्य आदि के ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है जैसे—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव, इन स्वचतुष्टय की अपेक्षा से द्रव्य अस्तिरूप है।

9. परद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिकनय है जैसे—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव की अपेक्षा से द्रव्य नास्तिरूप है।

10. परमभाव को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिकनय है, जैसे—ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

1.6 अन्य दृष्टि से पर्यायार्थिक नय के छह भेद—

पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः।

पर्याय ही है अर्थ—प्रयोजन—विषय जिसका, वह पर्यायार्थिकनय है। इसके 6 भेद हैं—

1. अनादि-नित्य पर्याय को ग्रहण करने वाला पर्यायार्थिकनय है, जैसे—मेरु आदि रूप पुद्गल की पर्यायें नित्य हैं।

2. सादि-नित्य पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिकनय है, जैसे—सिद्ध पर्याय नित्य है।

3. ध्रौव्य को गौण करके उत्पाद-द्रव्य को ग्रहण करने के स्वभाव वाला अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे—समय-समय में पर्यायें विनाशशील हैं।

4. सत्ता को सापेक्ष करने रूप स्वभाव वाला नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे—एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप पर्यायें होती हैं।

5. कर्मोपाधि निरपेक्ष स्वभाव वाला नित्य शुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे—संसारी जीवों की पर्यायें सिद्ध पर्याय सदृश शुद्ध हैं।

6. कर्मोपाधि सापेक्ष स्वभाव वाला अनित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय है, जैसे—संसारी जीवों के जन्म और मरण होता है।

आगे चलकर द्रव्यार्थिकनय के भेदों का व्युत्पत्ति अर्थ कहकर उसके मूल दो भेद किये हैं।

1.7 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-नय का लक्षण बताइये ?

प्रश्न 2-नय के प्रमुख दो भेदों का वर्णन करिये ?

प्रश्न 3-द्रव्यार्थिक नय से क्या आशय है ? इसके प्रमुख तीन भेद कौन से हैं ?

प्रश्न 4-पर्यायर्थिक नय से क्या आशय है ? इसके प्रमुख चार भेद कौन से हैं ?

पाठ-2—शुद्ध-अशुद्ध निश्चयनय

2.1 शुद्धाशुद्धनिश्चयौ द्रव्यार्थिकस्य भेदौ—

शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय ये दोनों द्रव्यार्थिकनय के भेद हैं।

निश्चयनय का लक्षण—जिसके द्वारा अभेद और अनुपचरितरूप से वस्तु का निश्चय किया जाता है वह निश्चयनय है। इस निश्चयनय का हेतु द्रव्यार्थिकनय है।

व्यवहारनय का लक्षण—जिसके द्वारा भेद और उपचार से वस्तु का व्यवहार किया जाता है वह व्यवहारनय है। वह व्यवहारनय का हेतु पर्यायार्थिकनय है।

व्यवहारेण मोक्षस्य, मार्गमाश्रित्य निश्चयात्।
मार्ग आश्रियते भव्यैः, क्रम एष सनातनः।।1।।

भव्यजन व्यवहार से मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर निश्चय से मार्ग का आश्रय लेते हैं अर्थात् व्यवहार मोक्षमार्ग का आश्रय लेकर ही निश्चय मोक्षमार्ग प्राप्त होता है यही क्रम सनातन है—अनादिनिधन है।

(प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक है। उनमें से एक-एक धर्म को कहने वाले नय होते हैं। वर्तमान में निश्चय और व्यवहार नयों का विषय एक चर्चा का विषय बना हुआ है। ये नय वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराने में साधन होते हैं। इनका निर्दोष लक्षण क्या है ? इन दोनों में कौन सा नय सत्य है और कौन सा असत्य ? अथवा दोनों ही सत्य हैं क्या ? इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जा रहा है।)

'व्यवहार' शब्द के अनेक अर्थ हैं—

भेद, पर्याय, औपाधिक, उपचार आदि अर्थों में व्यवहार शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

भेद—जैसे जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से हैं। यहाँ भेद से हैं ऐसा अभिप्राय है।

पर्याय—जीव अनित्य है। यह पर्याय की अपेक्षा से प्रवृत्त हुआ व्यवहार है।

औपाधिक—जीव अशुद्ध है, संसारी है। यह कर्मोपाधि को ग्रहण करने वाला व्यवहार है।

उपचार—देवदत्त का घर, घी का घड़ा इत्यादि, इन कथनों में प्रयुक्त हुये व्यवहार के अनेक भेद हैं।

ऐसे ही और बहुत से अर्थों में व्यवहार शब्द का प्रयोग देखा जाता है सो आगम के आधार से यथास्थान दिखलाया जायेगा।

निश्चय शब्द के विभिन्न अर्थ-

अभेद, निरुपाधि, द्रव्य, शक्ति और शुद्ध भाव इत्यादि में निश्चय शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

अभेद—जीव के न दर्शन है, न ज्ञान है, न चारित्र है किन्तु जीव ज्ञायक भाव मात्र है। इसमें अभेद का प्रतिपादक निश्चयनय है।

निरुपाधि—जीव सिद्ध सदृश शुद्ध है। यह कर्मोपाधिरहित निश्चय है।

द्रव्य—जीव नित्य है। यह द्रव्यमात्र की विवक्षा से प्रवृत्त हुआ है।

शक्ति—संसारी जीव को भगवान आत्मा या परमात्मा कहना यह शक्ति की अपेक्षा से है जैसे कि दूध को घी व स्वर्णपाषाण को सुवर्ण कहना।

शुद्धभाव—जीव टंकोत्कीर्ण ज्ञान मात्र है। दर्शन-ज्ञान स्वरूप है इत्यादि।

तत्त्व विचार के समय तथा ध्यान में निश्चयनय का विषय आश्रयणीय है अर्थात् चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान तक निश्चयनय से तत्त्व का विचार किया जाता है। आगे ध्यान से उसका विषय अवलंबनीय हो जाता है।

व्यवहारनय भी तीर्थ प्रवृत्ति निमित्त प्रवृत्त होता है। इसके द्वारा भी वस्तु के औपाधिक भाव आदि का निर्णय करने

रूप छठे तक चलता है तथा इसके द्वारा कथित विषय का आश्रय भी छठे तक व कथंचित् सातवें तक भी रहता है। आगे ये नय स्वयं छूट जाते हैं और नयातीत परिणति होकर निर्विकल्प ध्यान होता है।

2.2 आगम की भाषा में इन नयों का वर्णन—

इन नयों का प्रयोग श्री कुंदकुंददेव की गाथाओं में तथा सर्वत्र ग्रंथों में यथासंभव घटित करना चाहिए।

नियमसार में श्री कुंदकुंददेव ने जीव के ज्ञान-दर्शन गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें स्वभाव और विभाव ऐसे दो रूप से कहा है। उसी प्रकार से जीव की पर्यायों के भी स्वभाव-विभाव ऐसे दो भेद किये हैं।

द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सभी जीव पूर्वकथित पर्यायों से (स्वभाव-विभाव गुण पर्यायों से) रहित हैं एवं पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा सभी जीव स्वभाव-विभाव इन दोनों प्रकार की पर्यायों से सहित हैं।

यहाँ पर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयों का सामान्य कथन है, अतः शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक दोनों आ जाते हैं। संसारी जीव अशुद्ध पर्यायों से एवं मुक्त जीव शुद्ध पर्यायों से रहित हैं ऐसा अर्थ स्पष्ट हो जाता है। चूँकि यह द्रव्यार्थिकनय मात्र द्रव्य को ही ग्रहण करता है पर्यायों को नहीं तथा पर्यायार्थिक नय से भी शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकार की पर्यायों को समझना चाहिए।

ये दोनों नय अपने-अपने विषय को स्वतंत्ररूप से ग्रहण करते हुए भी परस्पर सापेक्ष रहते हैं तभी सम्यक् हैं अन्यथा निरपेक्ष होते ही मिथ्या हो जाते हैं।

उसी प्रकार से जहाँ कहीं भी गाथाओं में 'निश्चयनय' कहा गया है वहाँ पर यथायोग्य शुद्ध या अशुद्ध को घटित करना चाहिए।

यह आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है यह व्यवहारनय का कथन है तथा कर्मजनित भावों का कर्त्ता और भोक्ता है यह निश्चयनय का कथन है। अब यहाँ कर्मजनित औपाधिक भावों का कर्त्ता-भोक्ता मानने में अशुद्ध निश्चयनय को ग्रहण करना चाहिए।

उसी प्रकार से—

ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान ये व्यवहार से कहे जाते हैं किन्तु (निश्चय से) उस ज्ञानी के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध है।

यहाँ पर जो व्यवहारनय है वह मात्र भेद के द्वारा वस्तु का निश्चय कराता है न कि उपचार के द्वारा क्योंकि ज्ञानी आत्मा के ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र व्यवहार से कहे गये हैं, इसका अर्थ— भेद से कहे गये हैं न कि उपचार अथवा कर्मोपाधि से। उसी प्रकार से आत्मा के न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है वह तो मात्र ज्ञायक शुद्ध है। यह कथन 'भेदकल्पनानिरपेक्ष' द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से है।

उसी प्रकार से—

जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है और न प्रमत्त ही है इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं और जिसे ज्ञायक भाव के द्वारा लिया गया है वह वही है, अन्य कोई नहीं है। यहाँ पर 'परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक' नय के द्वारा आत्मा को कहा गया है।

इसी तरह सभी के उदाहरण समझ लेना।

द्रव्यार्थिक नय के दश भेदों में 'कर्मोपाधिनिरपेक्ष', 'सत्तामात्रग्राहक' और 'भेदकल्पनानिरपेक्ष' ये तीन नय शुद्ध द्रव्यार्थिक हैं। 'कर्मोपाधिसापेक्ष', 'उत्पादव्ययसापेक्ष' और 'भेदकल्पनासापेक्ष' ये तीन अशुद्ध द्रव्यार्थिक हैं। 'अन्वयसापेक्ष' 'स्वद्रव्यादिग्राहक' और 'परद्रव्यादिग्राहक' ये तीन सामान्य हैं एवं 'परमभावग्राहक द्रव्यार्थिक' यह मात्र वस्तु के शुद्ध स्वभाव को ही कहता है।

इसी प्रकार पर्यायार्थिक के 6 भेदों में भी शुद्ध-अशुद्ध व्यवस्था समझ लेना चाहिए।

2.3 नयों के भेद—

नैगमनय—नैगमनय के भूत, भावी और वर्तमान काल की अपेक्षा तीन भेद हैं।

1. जहाँ पर अतीतकाल में वर्तमान का आरोपण किया जाता है वह भूत नैगमनय है। जैसे—आज दीपावली के दिन वर्धमान स्वामी मोक्ष गये हैं।

2. भविष्यत् पर्याय में भूतकाल के समान कथन करना भावी नैगमनय है। जैसे—अर्हंत सिद्ध ही हैं।

3. करने के लिए प्रारंभ की गई ऐसी ईषत् निष्पन्न—थोड़ी बनी हुई अथवा अनिष्पन्न—बिल्कुल नहीं बनी हुई वस्तु को निष्पन्नवत् कहना वर्तमान नैगमनय है। जैसे—भात पकाया जाता है।

संग्रहनय—संग्रहनय के दो भेद हैं—सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह।

1. सभी को सामान्यरूप से ग्रहण कर लेना सामान्य संग्रह है। जैसे—सर्व द्रव्य परस्पर अविरोधी हैं—अर्थात् एक हैं। इसी नय के एकांत से ब्रह्माद्वैत आदि अद्वैतवाद हो गये हैं।

2. एक जातिविशेष से सबको ग्रहण करना विशेष संग्रह है। जैसे—सभी जीव परस्पर अविरोधी हैं—अर्थात् एक हैं।

व्यवहारनय—व्यवहारनय के भी दो भेद हैं—सामान्य और विशेष।

1. सामान्यसंग्रहनय के विषयभूत पदार्थ में भेद करने वाला सामान्य संग्रह भेदक व्यवहारनय है। जैसे—द्रव्य के दो भेद हैं—जीव और अजीव।

2. विशेष संग्रह के द्वारा ग्रहण किये गये विषय में भेद करने वाला विशेष संग्रह भेदक व्यवहारनय है। जैसे—जीव के संसारी और मुक्त दो भेद हैं।

ऋजुसूत्रनय—ऋजुसूत्रनय के भी दो भेद हैं—सूक्ष्मऋजुसूत्र और स्थूलऋजुसूत्र।

1. एक समयवर्ती पर्याय को ग्रहण करने वाला सूक्ष्मऋजुसूत्रनय है। जैसे—शब्द क्षणिक हैं।

2. अनेक समयवर्ती पर्यायों को ग्रहण करने वाला स्थूलऋजुसूत्रनय है। जैसे—मनुष्यादि पर्यायें अपनी-अपनी आयु प्रमाण काल तक रहती हैं।

शब्दनय—लिंग, संख्या आदि के व्यभिचार को छोड़कर शब्द के अनुसार अर्थ को ग्रहण करना शब्दनय है। जैसे—दारा, भार्या, कलत्र अथवा जल व अप एकार्थवाची हैं। यह नय एक ही है।

समभिरूढ़नय—नाना अर्थों को छोड़कर जो प्रधानता से एक अर्थ में रूढ़ होता है वह समभिरूढ़नय है। जैसे—'गो' शब्द के वाणी शब्द आदि अनेक अर्थ होते हुए भी वह 'पशु' अर्थ में रूढ़—प्रसिद्ध है।

एवंभूतनय—जिस नय में वर्तमान क्रिया ही प्रधान होती है वह एवंभूतनय है जैसे—इंदन क्रिया में तत्पर देवराज को 'इंद्र' कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक से लेकर एवंभूत तक नयों के 28 भेद होते हैं। अब उपनयों को देखिये।

2.4 उपनय—

जो नयों के समीप रहें वे उपनय हैं। इसके तीन भेद हैं—सद्भूतव्यवहार, असद्भूतव्यवहार और उपचरित असद्भूत व्यवहार।

सद्भूतव्यवहार उपनय—जो नय संज्ञा, संख्या, लक्षण और प्रयोजन आदि के भेद से गुण और गुणी में भेद करता है वह सद्भूत व्यवहार उपनय है। इसके दो भेद हैं—शुद्ध सद्भूतव्यवहार और अशुद्ध सद्भूत व्यवहार।

1. जो नय शुद्धगुण और शुद्धगुणी में तथा शुद्धपर्याय और शुद्ध पर्यायी में भेद करता है वह शुद्धसद्भूत व्यवहार

उपनय है। जैसे—जीव का केवलज्ञान गुण है, जीव गुणी है तथा जीव की सिद्ध पर्याय है।

2. जो नय अशुद्धगुण अशुद्धगुणी में और अशुद्धपर्याय-अशुद्धपर्यायी में भेद करता है वह अशुद्ध सद्भूतव्यवहार उपनय है।

असद्भूतव्यवहार उपनय—अन्य में प्रसिद्ध धर्म (स्वभाव) का अन्य में समारोपण करना असद्भूत-व्यवहारोपनय है। इनके तीन भेद हैं—स्वजात्यसद्भूतव्यवहार, विजात्यसद्भूत-व्यवहार और स्वजातिविजात्यसद्भूतव्यवहार।

1. जो नय स्वजातीय द्रव्यादिक में स्वजातीय द्रव्यादि के संबंध से होने वाले धर्म का आरोपण करता है वह स्वजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—'परमाणु बहुप्रदेशी है' ऐसा कहना।

2. जो नय विजातीय द्रव्यादि में विजातीय द्रव्यादि का आरोपण करता है वह विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—मतिज्ञान मूर्त है, क्योंकि वह मूर्तद्रव्य से उत्पन्न हुआ है।

3. जो नय स्वजातीय द्रव्यादि में विजातीय द्रव्यादि के संबंध का आरोपण करता है वह स्वजाति विजात्यसद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—ज्ञेयभूत जीव और अजीव में ज्ञान है, क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं।

उपचरितअसद्भूतव्यवहार उपनय—असद्भूतव्यवहार ही उपचार है, जो नय उपचार से भी उपचार करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है। इसके भी तीन भेद हैं—स्वजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार, विजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार और स्वजातिविजात्युपचरित असद्भूतव्यवहार।

1. जो उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है वह स्वजात्युपचरितासद्भूत व्यवहार उपनय है। जैसे—पुत्र, स्त्री आदि मेरे हैं।

2. जो विजातीय द्रव्य का विजातीय द्रव्य को स्वामी कह देता है वह विजात्युपचरितासद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—वस्त्र, आभूषण, स्वर्ण, रत्न आदि मेरे हैं।

3. जिसमें मिश्रद्रव्य का स्वामी कह दिया जाता है वह स्वजाति-विजात्युपचरित-असद्भूतव्यवहार उपनय है। जैसे—देश, राज्य, दुर्ग आदि मेरे हैं।

ये सभी नय और उपनय सैद्धांतिक भाषा में कहे गये हैं।

2.5 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-निश्चय नय और व्यवहारनय का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 2-संग्रह नय की विवेचन करिये ?

प्रश्न 3-शब्दनय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 4-उपनय किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख तीन भेद कौन-कौन से हैं ?

पाठ-3—अध्यात्म भाषा में नय व्यवस्था

3.1 अध्यात्म पद्धति से नयों के मूल दो भेद—

निश्चय नय एवं व्यवहार नय।

3.1.1 निश्चयनय—गुण-गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी आदि में भेद न करके अभेदरूप से वस्तु को ग्रहण करना।

3.1.2 व्यवहारनय—गुण-गुणी में तथा पर्याय-पर्यायी में भेद करके वस्तु को भेद रूप से ग्रहण करना।

निश्चय नय के भेद—शुद्धनिश्चयनय, अशुद्धनिश्चयनय।

शुद्धनिश्चयनय—जो नय कर्मजनित-विकार रहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है। जैसे—जीव केवलानमयी है। शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा जीव के न बंध है, न मोक्ष है और न गुणस्थान आदि हैं।

अशुद्धनिश्चयनय—जो नय कर्मजनित-विकार सहित गुण और गुणी को अभेद रूप से ग्रहण करता है। जैसे—आत्मा मोह, रागद्वेष रूप भाव कर्मों का कर्ता और भोक्ता है।

व्यवहारनय के भेद—

सद्भूत व्यवहारनय एवं असद्भूत व्यवहारनय।

सद्भूत व्यवहारनय—एक वस्तु में गुण-गुणी का संज्ञादि की अपेक्षा भेद करना। जैसे-जीव के ज्ञान, दर्शनादि।

सद्भूत व्यवहारनय के भेद—उपचरित सद्भूत व्यवहारनय एवं अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय।

उपचरित सद्भूत व्यवहारनय—कर्मजनित-विकार सहित गुण-गुणी के भेद को ग्रहण करने वाला नय। जैसे—जीव के मतिज्ञान आदि गुण।

अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय—कर्मजनित-विकार रहित जीव के गुण-गुणी के भेदरूप विषय को ग्रहण करने वाला नय। जैसे—जीव के केवलज्ञानादि गुण।

असद्भूत व्यवहारनय—भिन्न वस्तु को ग्रहण करने वाला नय। जैसे-जीव का शरीर, मकान आदि।

असद्भूत व्यवहारनय के भेद—उपचरित असद्भूत व्यवहारनय एवं अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—संश्लेष संबंध रहित ऐसी भिन्न-भिन्न वस्तुओं का परस्पर में संबंध ग्रहण करने वाला नय है। जैसे—देवदत्त का धन, राम का महल, रावण की लंका आदि।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय—संश्लेष संबंध सहित वस्तु के संबंध को विषय करने वाला नय। जैसे—जीव का शरीर कहना।

उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के भेद—

1. स्वजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—जो नय उपचार से स्वजातीय द्रव्य का स्वजातीय द्रव्य को स्वामी बतलाता है, वह स्वजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है। जैसे—शिष्य-पुत्र, पुत्री, स्त्री आदि मेरे हैं।

2. विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—सोना, चांदी, वस्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि मेरे हैं, ऐसा कहना विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय हैं।

3. स्वजातीय-विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहारनय—देश, राज्य, दुर्ग ये सब मेरे हैं, ऐसा जो नय कहता है वह स्वजातीय-विजातीय उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है, क्योंकि देश, राज्य आदि में सचेतन, अचेतन दोनों पदार्थ रहते हैं।

3.2 अध्यात्म नय सारणी—

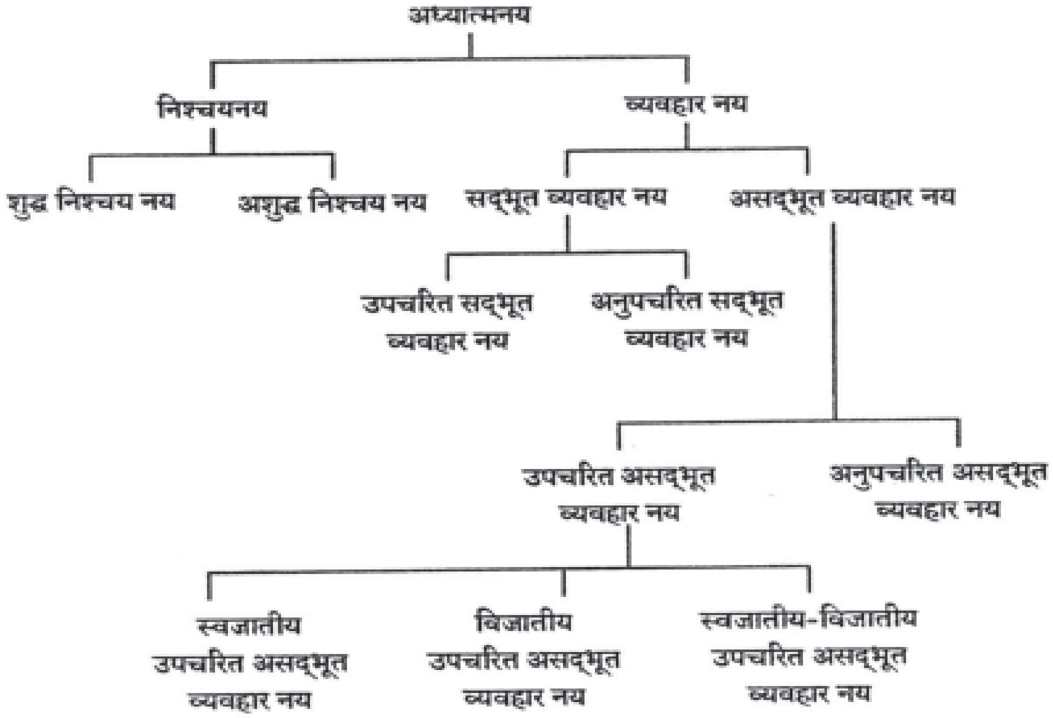

3.3 सातों नयों में द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक या शब्द-अर्थ नय—

जहाँ कालकृतभेद है वह पर्यायार्थिक नय है तथा जहाँ कालकृत भेद नहीं वह द्रव्यार्थिकनय है। सप्त नयों में नैगम-संग्रह-व्यवहार द्रव्यार्थिक नय हैं तथा ऋजुसूत्र-शब्द-समभिरूढ़ और एवंभूत ये पर्यायार्थिक नय हैं। नैगम-संग्रह-व्यवहार शब्दनय हैं। ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये अर्थनय हैं।

3.4 जीवन में नय की आवश्यकता—

नय का ज्ञान सुखी-संतोषी जीवन की एक कला है। नय का ज्ञान एक दूसरे के विचारों का आदान-प्रदान करने में सहायक बन किसी को तिरस्कृत नहीं करता। नयापेक्षा नहीं जानने से मन भेद-मतभेद खड़े हो जाते हैं। नयापेक्षा वात्सल्य का प्रतीक है, यह एक दूसरे को जोड़ती है। नयापेक्षा से रहित मानव-मस्तिष्क मात्र एक हठवाद है। पतन, द्वेष व आपसी मतभेद का कारण है। नय की सत्यता का ज्ञान जीवन में पग-पग पर एक मार्गदर्शक है। ''सफल-शान्त जीवन की यह कुंजी है।''

नय पदार्थों का जैसा स्वरूप है उस रूप से उनके ग्रहण करने में निमित्त होने से मोक्ष का कारण है। इसलिए नय का कथन किया जाता है।

3.5 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-अध्यात्म पद्धति से नयों के मूल भेद कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 2-जीवन में नयों के प्रयोग की आवश्यकता क्या है ?

प्रश्न 3-शब्द नय कौन-कौन से हैं ?

प्रश्न 4-अर्थ नय कितने प्रकार के हैं ?

प्रश्न 5-व्यवहार नय के कितने भेद हैं ?

पाठ-4–कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?

4.1 परमभावदर्शियों को शुद्ध नय का कथन करने वाला शुद्धनय जानने योग्य है किन्तु जो अपरमभाव में स्थित हैं उनको व्यवहारनय के द्वारा उपदेश करना योग्य है।

जो पुरुष अंतिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान शुद्ध परमभाव का अनुभव करते हैं, वे प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अपरमभाव के अनुभव से शून्य हैं। अतः उनके लिए शुद्ध द्रव्य को ही कहने वाला होने से जिसने अस्खलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रकट किया है ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्ण के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है और जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकते हुये उस अशुद्ध सुवर्ण के समान 'अपरमभाव' का अनुभव करते हैं वे अंतिम पाक से उत्तीर्ण शुद्ध सुवर्ण के सदृश 'परमभाव' के अनुभवन से शून्य हैं। अतः उनके लिए अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से भिन्न-भिन्न एक भाव स्वरूप अनेक भाव दिखलाता हुआ यह व्यवहारनय विचित्र-अनेक वर्णमाला के समान जाना हुआ उस काल में प्रयोजनवान है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इस प्रकार से ही व्यवस्थित है।

कहा भी है—"यदि तुम जिनमत में प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ का (मोक्षमार्ग का) नाश हो जायेगा और दूसरे निश्चय के बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायेगा[1]।"

अब यहाँ समझना यह है कि 'परमभाव' तथा 'अपरमभाव' क्या है ? अंतिम पाक को प्राप्त कर चुके शुद्ध सुवर्ण के सदृश 'परमभाव' को लिया है और एक पाक, दो पाक आदि से शुद्ध होते हुए पंद्रह पाक तक उतरे हुए सुवर्ण के सदृश 'अपरमभाव' को कहा है। यह श्री अमृतचंद्रसूरि का मत है। इस दृष्टि से तो शुद्ध 'परमभाव' बारहवें गुणस्थान में ही घटित होगा उसके नीचे अशुद्ध सुवर्ण के समान आत्मा 'अपरमभाव' में ही स्थित है अथवा निर्विकल्पध्यान में आठवें, नवमें, दशवें गुणस्थानों में बुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने से वीतरागता मानी गई है, उस दृष्टि से वहाँ पर भी 'परमभाव' कहा जा सकता है उसके पहले सविकल्प अवस्था वाले छठे गुणस्थानवर्ती मुनि तो 'अपरमभाव' में ही हैं। चूँकि—

'**व्यवहारनयो.....तदात्वे प्रयोजनवान, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्।**' यह वाक्य ध्यान देने योग्य है।

व्यवहार नय......उस काल में प्रयोजनवान है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इसी प्रकार से व्यवस्थित हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय से ही तीर्थ और तीर्थ का फल होता है। तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहारनय का अवलंबन बुद्धिपूर्वक क्रिया होने तक चलता ही है। "निर्ग्रंथ प्रवचन को अथवा निर्ग्रंथचर्या को निर्वाणमार्ग श्री गौतमस्वामी ने भी कहा है।" छठे गुणस्थान की सरागचर्या भी निर्ग्रंथचर्या है चूँकि उसके बिना भी आगे के गुणस्थान नहीं होते हैं अतः चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठे, सातवें तक व्यवहारनय प्रयोजनवान है वहाँ तक 'अपरमभाव' है ही है।

व्यवहार अथवा निश्चय इन दोनों में किसी एक नय का एकांत तो मिथ्यात्व ही है अतः मिथ्यात्व में व्यवहारनय का अवलंबन नहीं है प्रत्युत व्यवहाराभास का अवलंबन है।

इस 'परमभाव' और 'अपरमभाव' को श्री जयसेनस्वामी ने भी इसी तरह से कहा है। यथा—

"यहाँ पर केवल भूतार्थ—निश्चयनय निर्विकल्पसमाधि में रत हुये मुनियों को प्रयोजनवान हो, मात्र इतनी ही बात नहीं है किन्तु सोलह ताव के शुद्ध सुवर्ण लाभ के अभाव में नीचे के ताव सहित सुवर्ण लाभ के समान निर्विकल्प समाधि से रहित किन्हीं प्राथमिक शिष्यों को कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय, कषाय को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है, ऐसा कहते हैं—

"शुद्धात्मभावदर्शियों को शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला शुद्धनय भावित करना चाहिए। क्यों ? क्योंकि यह सोलह ताव के सुवर्णलाभ के समान अभेद रत्नत्रय स्वरूप समाधि के काल में प्रयोजन सहित है, निःप्रयोजन नहीं है। व्यवहार से, विकल्प से, भेद से अथवा पर्याय से कहने वाला नय व्यवहारनय है। वह पुनः नीचे के ताव वाले सुवर्णलाभ के समान प्रयोजनवान् होता है। किनके लिये ? जो पुनः 'अपरम' अर्थात् अशुद्ध में अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा श्रावक की अपेक्षा से सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाले शुभोपयोग में अथवा प्रमत्त और अप्रमत्त मुनि की अपेक्षा से भेदरत्नत्रय लक्षण जीव पदार्थ में स्थित हैं। उनके लिए यह व्यवहारनय प्रयोजनवान् है।"

इससे यह समझना कि गाथा 11 में जो 'भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो।' कहा है सो वीतराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से ही कहा है।

4.2 व्यवहारनय की सार्थकता कहाँ तक है ?

"जो राग-द्वेष आदिरूप अध्यवसान आदि भाव हैं वह जीव है" ऐसा जिनेन्द्रदेव ने जो कहा है वह व्यवहारनय का कथन है।"

इसी की टीका में श्री अमृतचंद्रसूरि कहते हैं—

ये सब अध्यवसानादि भाव 'जीव' हैं ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञ देव ने कहा है, वह अभूतार्थ रूप जो व्यवहारनय है उसका मत है क्योंकि व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है। जैसे कि म्लेच्छभाषा म्लेच्छों को वस्तु का स्वरूप बतलाने वाली है। उसी तरह यह व्यवहारनय **परमार्थ का प्रतिपादक** होने से अपरमार्थभूत होने पर भी तीर्थ प्रवृत्ति का निमित्त है अतः इसका दिखलाना न्याय संगत ही है। चूँकि उस व्यवहार के बिना परमार्थ से तो जीव शरीर से भिन्न है पुनः जैसे भस्म को निःशंक होकर उपमर्दित कर देते हैं वैसे ही त्रस-स्थावर जीवों का भी निःशंक होकर घात कर देने से हिंसा नहीं होगी तो फिर बंध का भी अभाव हो जायेगा। ऐसी स्थिति में 'रागी, द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है वही छुड़ाने योग्य है' इस प्रकार राग-द्वेष-मोह से जीव परमार्थ से भिन्न ही रहेगा, तब मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का भी अभाव हो जाने से मोक्ष का ही अभाव हो जायेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि रत्नत्रय स्वरूप मोक्ष का उपाय भी व्यवहारनय से ही ग्रहण किया जाता है। व्यवहारनय के बिना बंध व मोक्ष की व्यवस्था ही नहीं ब्रा सकती है।

शंका—इस विषय में हमें कोई आपत्ति नहीं है, किन्तु निश्चयनय के अवलंबन से होने वाला रत्नत्रय चौथे से ही शुरू हो जाता है इस मान्यता में ही विवाद है, अतः उसी का समाधान चाहिए ?

समाधान—इसका समाधान तो गाथा 12वीं में किया जा चुका है कि जो 'अपरमभाव' में स्थित हैं उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है और आज सातवें गुणस्थान से ऊपर जा नहीं सकते अतः आज निश्चयनय का विषय श्रद्धान के लिये ही योग्य है अवलंबन के लिये नहीं। हाँ, सप्तमगुणस्थान में भी शुद्धोपयोग माना गया है अतः उसकी दृष्टि से कथंचित् मुनि ही उस निश्चयनय के अवलंबनस्वरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कर सकते हैं, साधारण जन नहीं प्राप्त कर सकते हैं, ऐसा समझना। क्योंकि व्यवहार या भेद रत्नत्रय साधन हैं और निश्चय या अभेद रत्नत्रय साध्य है। इस बात को आचार्यों ने स्वयं कहा है। साधन के बिना साध्य असंभव है पुनः छठे तक साधन रहे और चौथे गुणस्थान में साध्य हो जावे यह कैसे बनेगा ?

4.3 साध्य-साधन भाव—

व्यवहारनय अथवा व्यवहार रत्नत्रय साधन है तथा निश्चयनय या निश्चय रत्नत्रय साध्य है। इसका प्रमाण—पंचास्तिकाय की गाथा 160, 161 में है। सो देखिये—

व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है-धर्मादि द्रव्यों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, अंग-पूर्व संबंधी ज्ञान सो ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति करना सो चारित्र है। इस प्रकार यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री अमृतचंद्रसूरि इस गाथा की टीका में कहते हैं—

......इसमें तप के जो विशेषण दिये हैं वे पंच महाव्रत आदि से समन्वित मुनिचर्या रूप ही हैं। यथा—"आचारादि सूत्रों द्वारा भेदरूप से कहे गये अनेक विध मुनि आचारों के समस्त समुदायरूप तप में प्रवर्तन करना सो चारित्र है। ......यह व्यवहारनय के आश्रय से किया जाने वाला मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग के साधन भाव को प्राप्त होता है अर्थात् इस व्यवहार मोक्षमार्ग से ही निश्चयनयाश्रित मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है अन्यथा नहीं।

"इसलिये निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य-साधन-भाव अतिशयरूप से घटित हो जाता है।"

इन प्रमाणों को देखकर भी जो विद्वान् व्यवहार चारित्र को हेय कहते हैं अथवा व्यवहार चारित्र के बिना निश्चय चारित्र की कोरी बातें करते हैं। वे आकाश पुष्प की सुगंधि ही चाहते हैं ऐसा समझना चाहिए।

आगे चलकर श्री कुंदकुंददेव कहते हैं कि यह रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग कथंचित् (दसवें गुणस्थान तक) बंध का हेतु है पुनः (बारहवें गुणस्थान में) साक्षात् मोक्ष का हेतु है। यथा—

दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है। इसलिये वे सेवन करने योग्य हैं, ऐसा साधुओं ने कहा है। इनसे बंध भी होता है और मोक्ष भी होता है। इसी गाथा की टीका करते हुए श्री अमृतचंद्र सूरि कहते हैं—

ये दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी परसमयप्रवृत्ति के साथ मिलित हों तो....बंध के कारण भी हैं और जब समस्त परसमय प्रवृत्ति से निवृत्तिरूप स्वसमयप्रवृत्ति के साथ संयुक्त होते हैं तब......साक्षात् मोक्ष के कारण ही हैं।

श्री जयसेनाचार्य भी कहते हैं—

ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र जब शुद्धात्मा के आश्रित होते हैं तब मोक्ष के लिए कारण होते हैं और जब ये पर—पंचपरमेष्ठी आदि के आश्रित होते हैं तब पुण्यबंध (सातिशय तीर्थंकर प्रकृति आदि) के लिए कारण हो जाते हैं।

इसी गाथा नं. 160 की टीका में श्री जयसेनाचार्य के शब्दों में देखिये—

वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए जीव आदि पदार्थों के संबंध में सम्यक् श्रद्धान करना और जानना ये दोनों सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान गृहस्थ और मुनियों में समान होते हैं। परन्तु साधु, तपस्वियों का चारित्र आचारसार आदि ग्रंथों में कहे गये मार्ग के अनुसार प्रमत्त और अप्रमत्त—छठे-सातवें गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व छह आवश्यक आदिरूप होता है। गृहस्थों का चारित्र उपासकाध्ययन शास्त्र में कही गई रीति के अनुसार पंचमगुणस्थान के योग्य दान, शील, पूजा और उपवास आदि रूप अथवा दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रतिमास्थानरूप होता है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग का लक्षण है। जैसे—अग्नि सुवर्ण पाषाण को सुवर्ण बनाने में निमित्त है वैसे ही यह व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है।

4.4 निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है—

अब अगली गाथा के लिए श्री अमृतचंद्र सूरि की उत्थानिका देखिये—

'व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपान्यासोऽयम्।

व्यवहार मोक्षमार्ग के द्वारा साध्यरूप होने से अब निश्चय मोक्षमार्ग का यह कथन किया जाता है—

जो आत्मा इन तीनों द्वारा समाहित होता हुआ अन्य कुछ भी न करता है औन न छोड़ता ही है, वह निश्चयनय से मोक्षमार्ग कहा गया है। इसी की टीका में श्री अमृतचंद्र सूरि पुनः कहते हैं—

''अतो निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गयोः साध्यसाधनभावो नितरामुपपन्नः इति।'

इस प्रकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनि भी परसमयरत होते हैं तथा जहाँ तक

बंध है वहाँ तक कथंचित् परसमयप्रवृत्ति मानना चाहिए। उसके ऊपर उत्कृष्ट अंतरात्मा मुनि बारहवें गुणस्थान में ही पूर्णतया स्वसमयरत हैं वहीं पर बंध का अभाव होकर साक्षात् मोक्षमार्ग प्रकट होता है।

श्री अमृतचंद्र सूरि ने समयसार की व्याख्या में तो 'यथाख्यातचारित्र के पहले बंध होता है' यह बात स्पष्ट रूप से कह दी है।

वह (ज्ञानगुण) तो यथाख्यात चारित्र के नीचे (ग्यारहवें गुणस्थान के नीचे) अवश्यंभावी राग परिणाम का सद्भाव होने से बंध का हेतु ही है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि सातवें से दशवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक भी राग का अंश होने से कर्मबंध होता ही है और यह बात अध्यात्मसूरि श्री अमृतचंद्र सूरि जब स्वयं स्वीकार कर रहे हैं तब चतुर्थगुणस्थान आदि के सम्यग्दृष्टि को वीतरागी अथवा अबंधक कह देना स्वयं आत्मवंचना करना ही है।

4.5 व्यवहार रत्नत्रय साधन है—

निश्चयरत्नत्रय के लिये व्यवहार रत्नत्रय साधन (कारण) है।

शुद्ध निश्चयनय से निजशुद्धात्मा ही उपादेय है तथा भेदरत्नत्रय भी उपादेय है क्योंकि वह अभेदरत्नत्रय का साधक है अत: वह व्यवहार से उपादेय है।

उपादेयभूत जो निश्चयरत्नत्रय उसका कारण होने से व्यवहार मोक्षमार्ग उपादेय है और परम्परा से जीव की पवित्रता का कारण होने से पवित्र है।

4.6 निश्चय-व्यवहार में साध्य-साधन भाव है—

''यह नि:शंकित आदि आठ गुणों का व्याख्यान निश्चयनय की मुख्यता से किया गया है। निश्चयनय के लिए साधकभूत ऐसे व्यवहार रत्नत्रय में स्थित हुये सरागसम्यग्दृष्टि को अंजन चोर आदि की कथारूप से व्यवहारनय से भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए।''

निश्चय का व्याख्यान करके पुन: व्यवहारनय का व्याख्यान क्यों किया ?

ऐसा नहीं है, क्योंकि अग्नि और सुवर्णपाषाण के समान निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर में साध्य-साधन भाव दिखलाने के लिए किया है।''

4.7 केवल शुद्धात्मा में स्थित मुनियों के लिए व्यवहारनय निषिद्ध है—

व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है, परन्तु किनके लिए ?

इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है तुम ऐसा जानो, क्योंकि निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि निर्वाण को प्राप्त कर लेते हैं।''

तात्पर्यवृत्ति टीकाकार कहते हैं—

'इसके पश्चात् अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिरूप निश्चयनय के द्वारा विकल्पात्मक व्यवहारनय बाधित हो जाता है' इस कथन की मुख्यता से छह गाथा पर्यन्त व्याख्यान करते हैं—

''एवं पूर्वोक्त प्रकार से पराश्रित होने से व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है ऐसा जानो। किसके द्वारा ? शुद्धात्म द्रव्य के आश्रित निश्चयनय के द्वारा। क्यों ? क्योंकि, निश्चयनय में स्थित हुए मुनिगण निर्वाण को प्राप्त करते हैं, इस कारण से। दूसरी बात यह है कि यद्यपि प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा से प्रारंभ में सविकल्प अवस्था में निश्चय का साधक होने से व्यवहारनय प्रयोजनीभूत है फिर भी विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षण शुद्धात्मा में स्थित मुनियों के लिए निष्प्रयोजन है ऐसा भावार्थ है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक कथमपि निश्चयनय में स्थित नहीं हो सकते हैं। इसलिए शुद्धोपयोगी मुनियों

द्वारा ही व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है न कि श्रावकों द्वारा या छठे गुणस्थानवर्ती मुनियों द्वारा।

निर्विकल्प समाधिरूप निश्चय में स्थित होकर व्यवहार त्याज्य है अर्थात् उस त्रिगुप्त अवस्था में व्यवहार स्वयं ही नहीं है ऐसा तात्पर्य हुआ। इस प्रकार से निश्चयनय के द्वारा यह प्रतिषिद्ध है ऐसा जानना। यह अवस्था वीतरागी मुनियों की ही होती है।

4.8 भेदरत्नत्रय अभेदरत्नत्रय के लिए साधन है—

भेद रत्नत्रय से अभेदरत्नत्रय की एवं अभेद से केवलज्ञान की सिद्धि होती है। देखिए—

''भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारमोक्षमार्ग नामक व्यवहारकारणसमयसार के द्वारा अभेद रत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्ग नामक निश्चयकारणसमयसार साध्य है। इस निश्चयकारणसमयसार से केवलज्ञान की अभिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार प्रकट होता है।''

4.9 निश्चयनय आत्माश्रित है—

आगे चलकर भगवान कुंदकुंदेव स्वयं कहते हैं—

व्यवहारनय तो मोक्षमार्ग में श्रावक और मुनि इन दोनों ही प्रकार के लिंगों को कहता है किन्तु निश्चयनय सभी लिंगों को मोक्षमार्ग में स्वीकार नहीं करता है। ऐसा क्यों? क्योंकि, निश्चयनय आत्माश्रित है और व्यवहारनय शरीर आदि का आश्रय लेने से पराश्रित है।

4.10 समयसार क्या है ?—

श्री कुंदकुंददेव ने तो यहाँ तक कह दिया है कि दोनों नयों के पक्ष से रहित ही समयसार होता है—

जीव में कर्म बंधे हुये हैं अथवा नहीं बंधे हुये हैं इस प्रकार तो नयपक्ष अर्थात् व्यवहार और निश्चयनयों का कथन जानो, किन्तु जो इन दोनों के नयों से अतिक्रांत हो चुका है वही समयसार है ऐसा तुम जानो।

4.11 मुनि ही समयसार रूप हैं—

श्री अमृतचंद्रसूरि मुनियों को ही समयसाररूप मानते हैं—

जो हिंसा आदि पाँचों पापों को पूर्णरूप से त्याग करने में निरत हैं सो ये यति समयसारभूत हैं; और जो इन पाँचों पापों से एकदेशविरत हैं वे उपासक होते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक समयसाररूप शुद्धात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

4.12 व्यवहार बिना निश्चय होगा क्या ?—

जो साधन के बिना साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं अथवा व्यवहारचारित्र की उपेक्षा करके निश्चय की अपेक्षा करते हैं उनके बारे में आचार्य कहते हैं—

निश्चय का आलंबन लेते हुए परन्तु निश्चय से निश्चय को न जानते हुए कोई मुनि बाह्य आचरण में आलसी होते हुये तेरह प्रकार के चारित्र और तेरह प्रकार की क्रियाओं का नाश कर देते हैं अत: उभय रूप से नष्ट हो जाते हैं।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावकों के व्यवहार रत्नत्रय ही होता है। निश्चय नहीं। और भी देखिये—

मुनियों का आचरण कहकर अब आचार्य श्री कुंदकुंददेव मोक्षपाहुड़ ग्रंथ में श्रावकों के लिए कहते हैं—

पूर्वोक्त प्रकार से जिनेन्द्रदेव ने श्रमणों के लिए उपदेश दिया है अब श्रावकों के लिए कहते हैं उसे सुनो! वह उपदेश संसार का विनाश करने वाला है और सिद्धपद को प्राप्त कराने में उत्कृष्ट कारण है।

4.13 नयाभास-

यदि कोई नय वस्तु की एक विशेषता को विवक्षा वश व्यक्त करता हुआ उसमें रहने वाली अन्य विशेषताओं को गौण न कर उनका निषेध करने लगता है तो वह सुनय न रहकर दुर्नय या नयाभास बन जाता है, क्योंकि वस्तु

में विराजमान अन्य विशेषताओं को नकारने (निषेध) करने का उसे न तो कोई अधिकार है और न उसके नकारने में उनका अभाव ही हो जायेगा। एक अंश या विशेषता को पकड़कर उसे ही पूर्ण सत्य एवं अन्य विशेषताओं को असत्य मान लेना या कथन करना ही एकांत मिथ्यात्व और नयाभास है। जैसे अंधे मनुष्य का हाथी की पूँछ पकड़कर पूँछ को ही हाथी मान लेने वाला भ्रमित है, वैसे ही वस्तु में एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान लेने वाला भी भ्रमित हैं जो सत्य से परे है।

जैन वांग्मय में वस्तु को द्रव्य प्रधान दृष्टि से देखने को द्रव्यार्थिक तथा पर्याय (दशा) प्रधान दृष्टि को पर्यायार्थिक नय कहा गया है जबकि अध्यात्म ग्रंथों में द्रव्यार्थिक को निश्चय और पर्यायार्थिक को व्यवहारनय का नाम दिया गया है और निश्चय व्यवहार के नामों से ही उनका प्रयोग भी किया गया है। अतः इनमें नाम मात्र का भेद है, अर्थ भेद नहीं है।

समयसार के टीकाकार आचार्य जयसेन ने दोनों नयों को दो नेत्रों की उपमा दी है। जैसे एक नेत्र को बंद कर दूसरे नेत्र से देखने वाला नाक की दूसरी ओर स्थित वस्तुओं को देखने में असमर्थ रहता है, जो विद्यमान हैं, उसी प्रकार निश्चय प्रधान दृष्टि में वस्तु में विद्यमान गुण और उसकी पर्यायें दृष्टि में रहती नहीं है अतः उस समय वे गौण हो जाती हैं और व्यवहार प्रधान दृष्टि में गुण तथा पर्यायें ही दृष्टि में रहती हैं, द्रव्य गौण हो जाता है, जैसे एक व्यक्ति यह जीव है यह कथन और ज्ञान द्रव्य प्रधान दृष्टि है और यह व्यक्ति मनुष्य हैं यह पर्याय प्रधान दृष्टि हैं। दोनों दृष्टियाँ अपने-अपने विषय के कथन को मुख्य तथा अन्य दृष्टि से किये गये यथार्थ कथन को गौण कर प्रतिपादन करने के कारण सत्य हैं, जबकि व्यक्ति को केवल जीव ही कहने या मानने वाला और उसकी मनुष्यता को नकारने वाला एकांती है, उसी प्रकार व्यक्ति को केवल मनुष्य ही मानने वाला और उसके जीवत्व को नकारने वाला भी एकांती (मिथ्यादृष्टि) है।

इसी प्रकार संसारी जीव को शुद्ध निश्चयनय से समयसारादि अध्यात्म शास्त्रों में द्रव्य दृष्टि से त्रिकाल शुद्ध कहा गया है और व्यवहारनय की पर्याय दृष्टि में उसके रागी-द्वेषी होने के कारण अशुद्ध माना गया है। इन नयों की दृष्टियां भिन्न-भिन्न होने पर भी एक ही संसारी जीव में शुद्धता और अशुद्धता एक ही समय में निर्बाध सिद्ध हो जाती है। किन्तु कुछ भ्रमित जन-द्रव्य दृष्टि को ही सत्य और पर्याय दृष्टि को असत्य सत्य एकांती बनकर सिद्ध भगवान के समान स्वयं को भी सर्वथा शुद्ध और अंतस् में केवल ज्ञान सहित संसार दशा में भी मानकर आत्म वंचना में संलग्न हो जाते हैं, जबकि रागी द्वेषी और दु:खी कर्म बंधन बद्ध होने से वह प्रत्यक्ष ही अशुद्ध है और सिद्ध भगवान ही पर्याय दृष्टि से शुद्ध है। चूँकि केवलज्ञान, ज्ञान की पर्याय है और केवल ज्ञानावरण के क्षय होने पर ही वह प्रकट होती है, अतः संसारी जीव को केवलज्ञान की प्राप्ति हुए बिना केवलज्ञानी समझना या मानना भ्रम है। चूँकि संसारी जीव को शुद्ध हुए बिना केवलज्ञानी समझना या मानना भ्रम है। चूँकि संसारी जीव के अशुद्ध होने से ही इसे धर्माचरण द्वारा पुरुषार्थ कर मोक्षप्राप्ति करने का उपदेश दिया गया है अतः मुक्ति प्राप्त होने के पूर्व उसकी अशुद्धता को नकारा नहीं जा सकता।

उल्लिखित स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी नय (दृष्टि) चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार, यदि अपने कथन को ही पूर्ण सत्य एवं अन्य नय के कथन को असत्य मानता या कहता है एवं अन्य नय के विषय को गौण न कर उसका निषेध करता है तो वह एकांतवादी होने से जैनदर्शन के अनुकूल नहीं है तथा वह ऐकांतिक कथन मिथ्या दर्शन या एकान्त मिथ्यात्व है। नयों की परस्पर मित्रता ही सत्य को (वस्तु के स्वरूप) यथार्थ में उजागर कर सकती है, शत्रुता नहीं। यतः स्वयं वस्तु में भी द्रव्य गुण और पर्यायों में तादात्म्य संबंध होने से परस्पर मित्रता पायी जाती है। जिसका नय अंश-अंश में ज्ञान कराते हैं अतः वे निराधार नहीं होते।

4.14 सुनय और दुर्नय—

अष्टसहस्री नामक दर्शनशास्त्र में भी श्री विद्यानंदि महोदय ने 'तथा चोक्तं' कहकर सुनय और दुर्नय का लक्षण बताया है—

अनेकरूप पदार्थ का ज्ञान प्रमाण है, उस पदार्थ के एक अंश का ज्ञान नय है। वह नय अपने से विरोधी अन्य धर्म की अपेक्षा रखता है तथा दुर्नय अन्य धर्म का निराकरण करने वाला है।

वहीं पर श्री अकलंकदेव 'अष्टशती भाष्य' में कहते हैं—

अनेकांत का ज्ञान प्रमाण है, उसके एक धर्म को जानना नय है और उस नय के विरोधी धर्म का निराकरण करना दुर्नय है।

मिथ्यानयों का समूह मिथ्या ही है, चूँकि हम स्याद्वादियों के यहाँ मिथ्याएकांत नहीं है। निरपेक्षनय मिथ्या हैं और सापेक्षनय वास्तविक हैं, अर्थक्रियाकारी हैं।

परस्पर में निरपेक्ष ही नय मिथ्यारूप हैं, चूँकि उनका विषयसमूह मिथ्यात्व रूप से स्वीकार किया गया है किन्तु सापेक्षनय सुनय है चूँकि उनका विषय अर्थ क्रियाकारी है, उन विषयों का समूह वास्तविक है।

सुनय को सम्यक् एकांत और दुर्नय को मिथ्या एकांत कहते हैं। यथा—

एकांत के दो भेद हैं—सम्यक् एकांत और मिथ्या एकांत। प्रमाण के द्वारा प्ररूपित वस्तु के एक देश को सयुक्तिक ग्रहण करने वाला सम्यक् एकांत है। एक धर्म (वस्तु के एक अंश) का सर्वथा अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकांत है।

अनेकांत भी अनेकांतरूप है, वह प्रमाण और नय से सिद्ध होता है। अनेकांत की सिद्धि प्रमाण से होती है और विवक्षित नय की अपेक्षा से एकांत की सिद्धि होती है। यही सम्यक् एकांत है।

श्री जिनेन्द्रदेव के मत में परस्पर विरोधी विषय को लिये हुए भी सभी नय परस्पर में अविरोधी हैं। यथा—

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक अथवा नैगम आदि नय, नेवला, सर्प आदि प्राणी और बसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुयें ये सब तथा इनके सिवाय और भी जो पृथ्वी पर परस्पर विरोधी पदार्थ हैं जो कि परस्पर में कभी नहीं मिलते हैं, वे सब आपके प्रभाव से एक साथ संगत हो गये हैं—आपस के विरोध को भूलकर मिल गये हैं तथा कितने ही अन्य कार्य देवों की ऋद्धि से निष्पन्न किये गये हैं।

ये सभी नय अपने-अपने विषय के कथन करने में समीचीन हैं और दूसरे नयों के निराकरण करने में मूढ़ हैं। अनेकांत रूप समय के ज्ञाता पुरुष 'यह नय सच्चा है और यह नय झूठा है' इस प्रकार का विभाग नहीं करते हैं।

4.15 श्री समन्तभद्राचार्य का कथन—

परमपूज्य स्वामी समन्तभद्र ने अपने आप्त मीमांसा नामक ग्रंथ में स्पष्ट शब्दों में नयों के परस्पर निरपेक्ष कथन को मिथ्या एवं सापेक्ष कथन को ही कार्यकारी (यथार्थ ज्ञान कराने वाला) होने से सम्यक् दर्शाया है। वे लिखते हैं—

'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।'

अर्थात् निरपेक्ष सभी नय मिथ्या और सापेक्ष परस्पर मैत्री भाव रखने वाले सभी नय सत्य हैं।''

यह सब होते हुए भी समाज में निश्चय और व्यवहार की ऐकांतिक खींचतान कर पक्ष व्यामोह वश अपने प्रिय नय पक्ष को ही सर्वथा सत्य एवं अन्य को असत्य कह कर लोग निरर्थक विवाद करते रहते हैं, जबकि वस्तु स्वरूप को नयों के प्रति मध्यस्थ रहकर निष्पक्ष भावपूर्वक जानने और समझने में ही अनेकान्तात्मक सत्य के दर्शन हो सकते हैं और जबकि दोनों नय अपनी-अपनी दृष्टि से यथार्थ ज्ञान कराने के साधन हैं, वे एकांत पक्ष के पोषण के लिए नहीं है।

पुरुषार्थ– सिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र तत्त्व जिज्ञासुओं को सचेत करते हुए लिखते हैं—

जो व्यवहार और निश्चयनय के दृष्टिकोणों को भली भांति जान और समझकर मध्यस्थ बना रहता है, किसी नय का पक्षपात नहीं करता। वही शिष्य भगवान जिनेन्द्र की देशना के पूर्ण फल (सम्यग्ज्ञान) का पात्र बनता है।

4.16 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1–कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?

प्रश्न 2–क्या निश्चय और व्यवहार में साध्य साधन भाव है ?

प्रश्न 3–समयसार क्या है ?

प्रश्न 4–नयाभास से क्या आशय है ?

प्रश्न 5–सुनय और दुर्नय में अन्तर बताइये ?

पाठ 5–ग्रंथों के अध्ययन-अध्यापन की शैली

5.1 अध्ययन अर्थात् ग्रंथों को पढ़ना और उसका मनन करना तथा अध्यापन अर्थात् शिष्यों को पढ़ाना, अभ्यास कराना। किसी भी शास्त्र को गुरुमुख से ही पढ़ना चाहिये, तभी उसका समीचीन-संगत-निर्दोष अर्थ ग्रहण किया जा सकता है अन्यथा गलत अर्थ धारणा में बैठ जाने से प्राय: उसका दुराग्रह भी हो जाया करता है अत: कुछ मौलिक ग्रंथ तो गुरुमुख से ही पढ़ने चाहिये।

पुन: यदि किसी ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाता है तो उसे एक बार पढ़कर दूसरी बार अवश्य पढ़ना चाहिए जिससे उसका आद्योपांत संदर्भ समझ में आ जाता है। हो सके तो तीन, चार या कई बार भी उस ग्रंथ का स्वाध्याय करना चाहिए। तब उसको किसी को पढ़ाना चाहिए और तभी उस ग्रंथ का प्रवचन करना चाहिए।

समयसार आदि ग्रंथों की गाथायें सूत्र रूप हैं। उनका संबंध आगे पीछे के सूत्रों से रहता ही रहता है। जैसे कि "तत्त्वार्थसूत्र" टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामी और अकलंकदेव आदि आचार्यों ने एक-एक सूत्र की टीका में कहीं पीछे के या कहीं आगे के सूत्रों से संबंध जोड़कर तथा पूर्वापर विरोध न हो जावे इस बात को ध्यान में रखकर ही विशेष अर्थ स्फुट किया है। उदाहरण के लिये 'न देवा:।।' इस सूत्र का अर्थ कोई भी यही करेगा कि 'देव नहीं हैं' किन्तु ऐसा अर्थ पूर्वापर-विरुद्ध होने से इसमें पूर्व के 'नारकसंमूर्च्छिनो नपुंसकानि'।। इस सूत्र से 'नपुंसक' शब्द का अध्याहार लेकर 'देव नपुंसक नहीं होते' ऐसा अर्थ किया जाता है। ऐसे ही सर्वत्र ग्रंथों में समझना चाहिए।

इस अध्ययन-अध्यापन की शैली में हमें किन-किन बातों को समझना है ? देखिये—

गुरु कैसे होने चाहिए ? शिष्य कैसा होना चाहिए ? गुरु परम्परा से पढ़ने का क्या महत्त्व है ? ग्रंथों को पढ़ते या पढ़ाते समय 'पापभीरुता' कैसी होनी चाहिए ? ग्रंथ को पढ़ाते समय पहले उसके रहस्य को कैसे समझाना चाहिए ? श्रावक को क्या करना चाहिए ? पूर्वाचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है ? मुनियों के आशीर्वाद देने में क्रम क्यों है ? पहले मुनिधर्म का उपदेश देना,वह किसको ? मद्य, माँसादि के त्याग और दया, दान आदि का उपदेश क्या भगवान ने दिया है ? गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं क्या ? कैसी कथाओं का उपदेश देना चाहिये ? इन सब बातों को समझकर ही अध्ययन-अध्यापन अथवा प्रवचन करने से अर्थ का अनर्थ नहीं होता है।.

ग्रंथों को पढ़ाने वाले मुनि या विद्वान् श्रावक उपाध्याय, गुरु अथवा अध्यापक कहलाते हैं तथा उपदेश देने वाले भी उपाध्याय या गुरु होते हैं और विद्वान् पण्डितगण वक्ता कहलाते हैं। गुरु में क्या गुण होना आवश्यक हैं ? शिष्य या श्रोतागण कैसे होने चाहिये ? गुरुपरम्परा से अध्ययन करने या उपदेश सुनने का क्या महत्त्व है ? पहले इन सभी बातों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये पुन: गुरु या वक्ता बनना चाहिए।

5.2 गुरु कैसे हों ?

'ग्रंथार्थतो गुरुपरम्परया यथावत्, श्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान्।
ये ग्राहयंत्युभयनीतिबलेन सूत्रं,रत्नत्रयप्रणयिनो गणिन: स्तुमस्तान्।।4।।

जो गुरु परम्परा से ग्रंथ, अर्थ और उभयरूप से सूत्र को यथावत् सुनकर और उसे अवधारण करके स्वयं संसार से भयभीत होकर शिष्यों को उभय नीति-निश्चय-व्यवहारनय की पद्धति के बल से सूत्रों को पढ़ाते हैं उन रत्नत्रय के धारक आचार्यों की हम स्तुति करते हैं।

श्री अमृतचंद्रसूरि भी कहते हैं—

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधा:।
व्यवहारनिश्चयज्ञा: प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्।।4।।

जिन्होंने मुख्य-निश्चयनय और उपचार-व्यवहारनय अथवा मुख्य और गौण प्रतिपादन शैली से शिष्यों के दुस्तर अज्ञान को नष्ट कर दिया है ऐसे व्यवहार और निश्चय के ज्ञाता महामुनि ही जगत में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं अर्थात् मोक्षमार्ग को चलाते हैं।

गुणभद्रसूरि ने और भी अनेकों लक्षण किये हैं कि 'जो बुद्धिमान हो, समस्त शास्त्रों के रहस्य को जानने वाला हो, प्रश्नों को सहने में समर्थ हो, हर एक प्रश्नों के उत्तर में कुशल हो, इत्यादि गुणों से युक्त आचार्य ही वक्ता होते हैं।'

श्री गुणभद्रसूरि पुनः कहते हैं कि—

लोकद्वयहितं वक्तुं श्रोतुं च सुलभाः पुरा।
दुर्लभाः कर्तुमद्यत्वे वक्तुं श्रोतुं च दुर्लभाः।।143।।

पूर्वकाल में उभय लोक में हितकर ऐसे व्याख्यान को करने के लिये तथा सुनने के लिये भी बहुत से जन सुलभ थे किन्तु तदनुकूल आचरण करने के लिए दुर्लभ ही थे परन्तु वर्तमान में ऐसे व्याख्यान को कहने के लिए व सुनने के लिए भी लोग दुर्लभ हैं पुनः वैसा आचरण करना तो बहुत ही दूर की बात हो गई है।

उभय लोक के लिए हितकर किन्तु कठोर भी गुरु के वचन कैसे होते हैं—

विकाशयंति भव्यस्य मनोमुकुलमंशवः।
रवेरिवारविंदस्य कठोराश्च गुरूक्तयः।।142।।

कठोर भी गुरु के वचन भव्यों के मन को इस प्रकार से प्रफुल्लित करते हैं कि जिस प्रकार से सूर्य की कठोर किरणें भी कमल को खिला देती हैं।

5.3 शिष्य कैसे हों ?

शिष्य भी दुराग्रह से रहित हो तथा श्रवण, धारण आदि बुद्धि के विभव से युक्त हो, इत्यादि गुणों से युक्त शिष्य ही 'शास्य'—उपदेश के लिए पात्र है।

'जिनेन्द्रदेव के वचनों को सुनने का पात्र कौन है ?' उसका लक्षण श्री अमृतचंद्रसूरि बताते हैं—

'अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः।।74।।

अनिष्ट और दुस्तर पाप के स्थानस्वरूप मद्य, माँस, मधु और पंच उदुंबर फल इन आठों का त्याग करके शुद्ध बुद्धि वाले जन ही जिनधर्म की देशना के पात्र होते हैं।

'यावज्जीवमिति त्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स्यात्कृतोपनयो द्विजः।।19।।

जीवन पर्यंत के लिए मद्य आदि आठ महापापों को छोड़कर जो शुद्ध बुद्धि हो गया है और जिसका उपनयन संस्कार हुआ है ऐसा श्रावक जिनधर्म को सुनने के लिए योग्य होता है।

5.4 गुरु परम्परा का महत्त्व-

इस प्रकार आगम कथित गुणों से युक्त शिष्य या श्रोता गुरु परंपरा से ही तत्त्वों को समझने का उपाय करे अन्यथा अर्थ का अनर्थ हुये बिना नहीं रहता है। इस विषय में ज्ञानार्णव में कहा है कि—

नहि भवति निर्विगोपक्रममनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।
प्रकटितपश्चिमभागं पश्यत नृत्यं मयूरस्य।।34।।

जिसने गुरुकुल की—गुरु समूह की उपासना नहीं की है उसका विज्ञान प्रशंसा करने योग्य नहीं है किन्तु निंदा

सहित ही होता है। देखो! मयूर नृत्य करते समय अपने पृष्ठ भाग (मलद्वार) को उघाड़ कर नृत्य करता है अर्थात् मयूर ने नृत्य कला किसी गुरु से नहीं सीखी है इसलिये वह नृत्य करते समय उपर्युक्त रीति से नृत्य करता है। वैसे ही जो गुरुओं से अध्ययन नहीं करते हैं उनका अध्ययन विपरीत बुद्धि को भी उत्पन्न कर देता है।

आप आचार्यों की परम्परा देखो तो स्पष्ट हो जाता है कि सभी आचार्य गुरुमुख से ही ग्रंथों का अध्ययन करते थे। धरसेनाचार्य तक गुरु परिपाटी से ही ज्ञान आया और जैसा कि पुष्पदंत भूतबली आचार्यों ने भी आचार्य धरसेन से ज्ञान पाया तथा श्री कुंदकुंददेव ने भी इन ग्रंथों का ज्ञान परम्परा से प्राप्त किया। यथा—

एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातः सिद्धांतः कुण्डकुंदपुरे।।160।।
श्री पद्मनंदिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रंथपरिकर्मकर्त्रा षट्खण्डाद्यत्रिखंडस्य।।161।।

कर्म प्राभृत (षट्खण्डागम) और कषायप्राभृत इन दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरु-परिपाटी से कुंदकुंदपुर के 'पद्मनंदि' मुनि को प्राप्त हुआ और उन्होंने सबसे पहले षट्खंडागम के प्रथम तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण 'परिकर्म' नाम की टीका रची।

जब महान अध्यात्म शिरोमणि श्री कुंदकुंददेव ने गुरु परम्परा से ज्ञान प्राप्त किया तब ग्रंथ रचना की। पुनः आज यदि उनके ग्रंथों का स्वाध्याय करने वाले लोग-गुरुओं के परम्परागत अर्थ की उपेक्षा करके मनमाना अर्थ करेंगे तो अनर्थ होना स्वाभाविक ही है।

गुरुओं की परम्परा से ज्ञान प्राप्त करने का महत्त्व गुर्वावली में बहुत ही अच्छी तरह से बताया गया है। उन गुर्वावली, पट्टावली आदि का भी मनन करना चाहिए।

5.5 पूर्वाचार्यों की पापभीरुता-

ग्रंथों को पढ़ाते समय विद्वान् के मुख से अथवा उपदेश करते समय वक्ता के मुख से पूर्वाचार्यों के प्रति श्रद्धा का निर्झर प्रवाहित हो जाना चाहिए। जैसे कि आचार्य विद्यानंदि, आचार्य वीरसेन और आचार्य वसुनंदि आदि के शब्दों में दिखता है। यथा—

"अब पुष्पदंत भट्टारक अंतिम गुणस्थान के प्रतिपादन हेतु, अर्थरूप से अर्हंत परमेष्ठी के मुख से निकले हुये, गणधर देव के द्वारा गूँथे गये शब्द रचना वाले, प्रवाहरूप से कभी भी नाश को नहीं प्राप्त होने वाले और सम्पूर्ण दोषों से रहित होने से निर्दोष आगे के सूत्र कहते हैं—"

यहाँ श्री वीरसेनस्वामी को श्री पुष्पदंत आचार्य के प्रति कितनी श्रद्धा है और उनके वचनों को वे साक्षात् भगवान की वाणीरूप ही मान रहे हैं। यह स्पष्ट दिख रहा है। आगे और देखिये—

"हमारे यहाँ आर्षपरंपरा का विच्छेद भी नहीं है क्योंकि जिसका दोष—आवरण रहित अरहंत देव ने अर्थरूप से व्याख्यान किया है जिसको चार ज्ञानधारी, निर्दोष गणधर देव ने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान सम्पन्न गुरु परम्परा से चला आ रहा है, जिसका पहले का वाच्य-वाचक भाव अभी तक नष्ट नहीं हुआ है और जो दोषावरण से तथा निष्प्रतिपक्ष सत्यस्वभाव वाले पुरुष के द्वारा व्याख्यात होने से श्रद्धा के योग्य है ऐसे आगम की आज भी उपलब्धि हो रही है।"

शंका—आधुनिक आगम अप्रमाण है क्योंकि अर्वाचीन पुरुषों ने इसका अर्थ किया है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान से सहित होने से प्रमाणता को प्राप्त इस युग के आचार्यों द्वारा इसके अर्थ का व्याख्यान किया गया है इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है।

शंका—छद्मस्थ सत्यवादी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि श्रुत के अनुसार व्याख्याता आचार्यों को प्रमाण मानने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—आगम का यह अर्थ प्रामाणिक गुरु परम्परा के क्रम से आया है यह कैसे निश्चय किया जाये ?

समाधान—"नहीं, क्योंकि....ज्ञान-विज्ञान से युक्त इस युग के अनेक आचार्यों के उपदेश से उसकी प्रमाणता जाननी चाहिए।......" और भी देखिये—

कषाय प्राभृतकार पहले आठ कषाय का क्षय, पीछे सोलह प्रकृति का क्षय मानते हैं किन्तु सत्कर्मप्राभृतकार (षट्खंडागमकार) पहले सोलह का नाश मानकर आठ कषाय का नाश मानते हैं। इस पर चर्चा चली कि दोनों में से कोई एक ही वाक्य सूत्ररूप प्रमाणीक होना चाहिए। इस पर आचार्य वीरसेन दोनों आगम को सूत्र कह रहे हैं। वे कह रहे हैं कि—

"जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधरदेव ने जिनकी ग्रंथ रचना की ऐसे द्वादशांग आचार्य परम्परा से निरंतर चले आ रहे हैं। परन्तु काल के प्रभाव से उत्तरोत्तर बुद्धि के क्षीण होने पर और उन अंगों के धारण करने वाले योग्य पात्र के अभाव में वे उत्तरोत्तर क्षीण होते हुय आ रहे हैं। इसलिये जिन आचार्यों ने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषों का अभाव देखा **जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरु परम्परा से श्रुतार्थ ग्रहण किया था उन आचार्यों ने तीर्थ विच्छेद के भय से उस समय अवशिष्ट रहे हुए अंग संबंधी अर्थ को पोथियों में लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें असूत्रपना नहीं आ सकता।**

शंका—यदि ऐसा है तो इन दोनों ही वचनों को द्वादशांग का अवयव होने से सूत्रपना प्राप्त हो जायेगा ?

समाधान—दोनों में कोई एक ही सूत्र हो सकता है, दोनों नहीं, क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है।

शंका—पुनः उत्सूत्र लिखने वाले आचार्य पापभीरु कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि दोनों प्रकार के वचनों में से किसी एक ही के वचन संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है किन्तु दोनों प्रकार के वचनों का संग्रह करने वाले आचार्यों के पापभीरुता नष्ट नहीं होती है अर्थात् बनी रहती है।

पुनः प्रश्न होता है कि—"**दोण्ह वयणाणं मज्झे कं वयणं सच्चमिदि चे ? केवली सुदकेवली वा जाणादि ण अण्णो तहा णिण्णयाभावादो। वट्टमाण-कालाइरिएहि वज्जभीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो अण्णहा वज्जभीरुत्त-विणासादो त्ति।**"

शंका—दोनों प्रकार के वचनों में से किसी वचन को सत्य माना जाये ?

समाधान—इस बात को केवली या श्रुतकेवली जानते हैं, दूसरा कोई नहीं जानता। क्योंकि, इस समय उसका निर्णय नहीं हो सकता है इसलिये पापभीरु वर्तमान के आचार्यों को दोनों का ही संग्रह करना चाहिये अन्यथा पापभीरुता का विनाश हो जायेगा।"

ऐसे ही अन्यत्र भी दो मत आ जाने पर प्रश्नोत्तरमाला चलती है। पुनः शिष्य कहता है कि—

शंका—दोनों वचनों का संग्रह करने वाला संशय मिथ्यादृष्टि हो जायेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संग्रह करने वाले के 'यह सूत्र कथित ही है' इस प्रकार का श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके संदेह नहीं हो सकता है।"

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि—

प्रश्न—आर्ष को प्रमाण कैसे माना जाये ?

उत्तर—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है वैसे ही आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है"।

आचार्य वीरसेन स्वामी तो स्पष्ट कहते हैं कि—"आगम केवलज्ञानपूर्वक उत्पन्न हुआ है, अतः आगम में अनुमान का प्रयोग नहीं हो सकता।"

जहाँ कहीं भी दो मत के आने पर शंका उठी है वहीं पर धवलाकार ने ऐसा समाधान दिया है। यथा—

"यह सूत्र है, यह सूत्र नहीं है' ऐसा आगमनिपुणजन कह सकते हैं किन्तु हम यहाँ कहने के लिये समर्थ नहीं हैं, क्योंकि हमें वैसा उपदेश प्राप्त नहीं है।"

इससे अधिक और पापभीरुता क्या होगी, कहिये ? जबकि वीरसेन स्वामी धवला, जयधवला टीकाकर्ता भी अपने को 'आगमनिपुण' नहीं मानते हैं।

आगे और देखिये—

शंका—बादर निगोद जीवों से प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित जीवों को यहाँ सूत्र में वनस्पति संज्ञा क्यों नहीं दी ?

समाधान—'गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो।' यहाँ गौतमस्वामी से पूछना चाहिए।"

कषायप्राभृत में भी कहा है कि—

"प्रमाण के लिये प्रमाण नहीं चाहिये और आगम स्वयं प्रमाण है।

मूलाचार में देवियों की आयु के बारे में गाथायें आई हैं। उन दोनों में अंतर है। यथा—

'सौधर्म स्वर्ग में देवियों की उत्कृष्ट आयु 5 पल्य, ईशान में 7, सानत्कुमार में 9, माहेन्द्र में 11, ब्रह्म में 13, ब्रह्मोत्तर में 15, लांतव में 17, कापिष्ठ में 19, शुक्र में 21, महाशुक्र में 23, शतार में 25, सहस्रार में 27, आनत में 34, प्राणत में 41, आरण में 48 और अच्युत में 55 पल्य है।

दूसरी गाथा में कहते हैं—सौधर्म-ईशान में 5 पल्य, सानत्कुमार युगल में 17, ब्रह्मयुगल में 25, लांतवयुगल में 45, शुक्रयुगल में 40, शतारयुगल में 45, आनतयुगल में 50 और आरण अच्युत में 55 पल्य है।

इसकी टीका में श्री वसुनंदि सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्य कहते हैं—

"......द्वौ अपि उपदेशौ ग्राह्यौ सूत्रद्वयोपदेशात्, द्वयोर्मध्ये एकेन सत्येन भवितव्यं, नात्र संदेहमिथ्यात्वं, यदर्हत्प्रणीतं तत्सत्यमिति संदेहाभावात्। छद्मस्थैस्तु विवेकः कर्तुं न शक्यतेऽतो मिथ्यात्वभयादेव द्वयोर्ग्रहणमिति।"

दोनों ही उपदेश ग्रहण करना चाहिये क्योंकि दोनों ही सूत्र के उपदेश हैं। यद्यपि यह निश्चित है कि दोनों में से कोई एक ही सत्य होना चाहिये। इस विषय में संशयमिथ्यात्व भी नहीं है क्योंकि 'जो अर्हंतदेव द्वारा प्रणीत है वही सत्य है' इस प्रकार से संशय का अभाव है क्योंकि छद्मस्थों को यह विवेक करना शक्य नहीं है इसलिये मिथ्यात्व के भय से ही दोनों को ग्रहण करना चाहिये।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में श्री विद्यानंदि महोदय तत्त्वार्थसूत्र को आप्तमूलक सिद्ध कर रहे हैं—

संप्रदायाव्यवच्छेदाविरोधादधुना नृणाम्।
सद्गोत्राद्युपदेशोऽत्र यद्वत्तद्वद्विचारतः।।6।।
प्रमाणमागमः सूत्रमाप्तमूलत्वसिद्धितः।।

संप्रदाय—परम्परा के व्यवच्छेद का अविरोध होने से यह सूत्र आगम प्रमाण है क्योंकि यह आप्तमूलक सिद्ध है। जैसे—आजकल मनुष्यों के सद्गोत्र (काश्यप आादि) आदि का उपदेश प्रवाहरूप से पाया जाता है। उसी प्रकार से विचार करने से यह सूत्ररूप आगम पूर्णतया प्रमाणभूत ही है।

कषायप्राभृत ग्रंथ के प्रति श्रद्धा देखिये—

स्वयं जयधवलाकार प्रस्तुत ग्रंथ के गाथा सूत्रों और चूर्णिसूत्रों को किस श्रद्धा और भक्ति से देखते हैं, यह उन्हीं के शब्दों में देखिये। एक स्थान पर शिष्य के द्वारा यह शंका किये जाने पर कि यह कैसे जाना ? इसके उत्तर में श्री

वीरसेनाचार्य कहते हैं—

''एदम्हादो विउलगिरिमत्थयत्थवड्ढमाणदिवायरादो विणिग्गमिय गोदम-लोहज्ज-जंवुसामियादि आइरियपरंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय गाहास-रूवेण परिणमिय अज्जमंखुणागहत्थीहितो जयिवसहमुहणयिय चुण्णिसुत्तायारेण परिणददिव्वज्झुणिकिरणादो णव्वदे। (जयध.आ.पत्र 313)

''विपुलाचल के शिखर पर विराजमान वर्धमान दिवाकर से प्रगट होकर गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी आदि की आचार्य परम्परा से आकर और गुणधराचार्य को प्राप्त होकर गाथा स्वरूप से परिणत हो पुनः आर्यमंक्षु और नागहस्ती के द्वारा यतिवृषभ को प्राप्त होकर और उनके मुखकमल से चूर्णिसूत्र के आकार से परिणत दिव्यध्वनिरूप किरण से जानते हैं।''

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कषायप्राभृत ग्रंथ साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि तुल्य है ऐसा टीकाकार का कथन है। दूसरी बात यह है कि आचार्य परम्परा की महत्ता पर पूर्ण प्रकाश दिख रहा है। 'गुणधराचार्य ने आचार्य परम्परा से ज्ञान पाया और गाथारूप से परिणत किया। पुनः आचार्य परम्परा से ही आर्यमंक्षु और नागहस्ती मुनि को उसका ज्ञान मिला। अनंतर उनके चरण सानिध्य में ज्ञान प्राप्तकर यतिवृषभ ने चूर्णिसूत्रों की रचना की है।

जयधवलाकार ने तो इन 'कसायपाहुड़' की गाथाओं को '**अणंतत्थगब्भाओ**' अनंत अर्थ गर्भित कहा है।

इन प्रकरणों को देखकर ग्रंथों का अर्थ प्रतिपादित करते समय अथवा प्रवचन करते समय इसी प्रकार से पूर्वाचार्यों के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए अपने और सुनने वालों के सम्यक्त्व को दृढ़ करना चाहिए।

5.6 शास्त्र अध्यापन एवं विवेचन का क्रम-

पहले तो विद्वान् या वक्ता को चारों अनुयोगों का ज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा वह किसी न किसी एकांत को पकड़ लेंगे। पुनः नयविवक्षा और परस्पर में समन्वय की शैली का होना आवश्यक है। अनंतर जिस ग्रंथ का प्रतिपादन करना है उसको आद्योपांत पूरा पढ़ लेना, मनन कर लेना आवश्यक है। इसके बाद यदि वे श्रोताओं को समझायेंगे तो अर्थ का अनर्थ नहीं होगा। जैसे—नियमसार को लीजिये, यह आध्यात्मिक ग्रंथ है। इसको समझने-समझाने के लिये पहले नयचक्र अथवा आलाप पद्धति के आधार से द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तथा व्यवहार और निश्चय नयों के लक्षण समझकर अच्छी तरह श्रोताओं को समझा देना चाहिये। अनंतर पहले उस ग्रंथ के रहस्य को समझा देना चाहिये

5.7 श्रावक का कर्तव्य क्या है ?-

श्रावक यदि समयसार, नियमसार, मूलाचार, गोम्मटसार, लब्धिसार, धवला आदि ग्रंथों को पढ़ता है तो उसे उनमें से मूलाचार से तो 'मुनियों की चर्या कैसी होती है ?' उसको समझना चाहिये। 'समयसार से' शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ?' सो समझना चाहिये। पुनः उसे करना क्या चाहिए ?

श्रावक को कुंदकुंददेव के चारित्रपाहुड, रयणसार, श्री समंतभद्रस्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार के अनुकूल अपना आचरण बनाना चाहिये। प्रथमानुयोग के अनुसार मर्यादापुरुषोत्तम रामचंद्र आदि के अनुरूप अपने जीवन को आदर्श बनाना चाहिए।

स्वामी समंतभद्राचार्य ने अपने श्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है पुनः उसके आठों अंगों का विवेचन किया है। अनंतर सम्यग्ज्ञान के अनुयोगों पर प्रकाश डालकर आगे कहा है कि—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

दर्शनमोहरूपी अंधकार के दूर हो जाने पर सम्यग्दर्शन का लाभ होने से ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। तब साधु

रागद्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को स्वीकार करता है। उसमें—

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानां।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानां।।

चारित्र के सकल और विकल ऐसे दो भेद हैं। उसमें सकलचारित्र सर्वपरिग्रहत्यागी अनगारों को होता है और विकल चारित्र परिग्रहसहित गृहस्थों को होता है।

जब रत्नत्रय धर्म है और उसके अंतर्गत ही श्रावकों के सामायिक में 'पूजा, भक्ति' और अतिथिसंविभाग में 'दान', अहिंसाणुव्रत आदि में 'दया' इत्यादि पाये जाते हैं तो पुनः 'भक्ति, दान, दया' आदि को धर्म नहीं मानना यह कहाँ की बुद्धिमानी है ?

अतएव श्रावकों के लिये मुख्यरूप से श्रावकाचार और आदर्श पुरुषों व महिलाओं की जीवन गाथाएँ सुनाना चाहिये क्योंकि ग्यारह अंगों में सातवां अंग उपासकाध्ययन नाम का है और मुनियों के लिये पहला अंग आचारांग नाम का है।

5.8 प्रवचन की शैली-

मुनि-आर्यिका, श्रावक अथवा श्राविका जो आगम के आधार से उपदेश करते हैं। उसे 'प्रवचन' भी कहते हैं। प्रवचन करने वालों को चारों अनुयोगों का सर्वांगीण अध्ययन होना आवश्यक है पुनः कैसे पात्रों को कैसा उपदेश देना यह भी समझ लेना चाहिये।

5.9 पूर्व के आचार्यों ने किस क्रम से उपदेश दिया है ?-

पूर्वविदेह में मधु नाम के वन में भील को श्रीसागरसेन मुनिराज ने उपदेश दिया और मद्य, माँस, मधु इन तीनों का त्याग करा दिया जिसको पालन करके वह भील मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया।

सिंह को चारणमुनियों ने सम्यक्त्व का उपदेश देकर पाँच अणुव्रत ग्रहण कराये।

खदिरसार भील को मुनि ने नमस्कार करने पर आशीर्वाद दिया 'धर्म लाभ हो' भील ने पूछा—धर्म क्या है ? मुनिराज ने कहा—"मद्य माँसादि का सेवन करना पाप है और इनको छोड़ देना धर्म है।" उस धर्म की प्राप्ति ही धर्म लाभ है। उस धर्म से पुण्य होता है और पुण्य से स्वर्ग में अनुपम सुख मिलता है। तब भील ने कहा—ऐसे धर्म का अधिकारी मैं नहीं हो सकता। मुनिराज ने उसका अभिप्राय समझ लिया और पूछा—'हे भव्य! क्या तूने कभी कौवे का माँस खाया है ?' भील ने सोचकर कहा—'नहीं।' मुनि ने कहा—'तो उसे ही तू छोड़ दे।' तब उसने इस व्रत को ले लिया। कुछ दिन बाद उसे असाध्य रोग हो जाने पर वैद्य ने कौवे का माँस खाने को कहा। बहुतों के द्वारा अनेकों प्रयत्नों के किये जाने पर भी उसने नहीं खाया। अनंतर पाँचों व्रतों को ग्रहण कर मरण करके सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ वहाँ से आकर वह राजा श्रेणिक हो गया।

यहाँ पर माँस, मधु आदि के त्याग को धर्म कहा है। वह भील उतने मात्र के ही योग्य था अभी उसमें सम्यक्त्व के ग्रहण करने की क्षमता नहीं थी। आगे चलकर ये ही श्रेणिक क्षायिक सम्यक्त्वी हो गये और आगे महापद्म तीर्थंकर होने वाले हैं। उतने से धर्म ने उसकी आत्मा को उन्नति के पथ पर लगा दिया।

'मार्ग से थका धनदत्त सूर्यास्त हो जाने पर मुनियों के आश्रम में पहुँचा, वह प्यासा था। जल मांगा, तब एक मुनि ने समझाया कि रात्रि में अमृत पीना भी उचित नहीं फिर पानी की तो बात ही क्या ? मुनि के उपदेश से उसने रात्रिभोजन का त्याग कर दिया। आयु पूर्ण होने पर मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव हो गया। वहाँ से च्युत होकर पद्मरुचि नामक श्रावक हो गया। कालान्तर में ये ही रामचंद्र हुये हैं।

ऐसे ही अगणित उदाहरण प्रथमानुयोग में भरे पड़े हैं। इन प्रकरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुनिगण श्रोताओं की योग्यतानुसार ही उपदेश देते थे, तथा गुरु का उपदेश व उनके पास में ग्रहण किया गया छोटा सा भी व्रत परम्परा से मुक्ति का कारण हो जाता था।

5.10 आशीर्वाद में क्रम-

इसी प्रकार से मुनियों को नमस्कार करने पर वे मुनि क्रम से ही उनकी योग्यता के अनुसार आशीर्वाद देते हैं। जैसे—मुनियों को उनसे लघु मुनि नमोस्तु करते हैं तो वे मुनि या आचार्य उन्हें 'नमोस्तु' कहकर प्रतिवंदना करते हैं। यदि आर्यिकायें, क्षुल्लिकायें, ऐलक, क्षुल्लक और व्रतिक श्रावक-श्राविकायें नमोस्तु करते हैं तो वे मुनि और आचार्य उन्हें 'समाधिरस्तु' आशीर्वाद देते हैं। साधारण श्रावक-श्राविकायें नमोस्तु करते हैं तो वे उन्हें 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' ऐसा कहते हैं। जैनधर्म से बाह्य अन्य लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें 'धर्मलाभोऽस्तु' कहकर आशीर्वाद देते हैं तथा चांडाल आदि लोग नमस्कार करते हैं तो वे उन्हें 'पापंक्षयोऽस्तु' ऐसा आशीर्वाद देते हैं। ऐसा आगम का विधान है।

5.11 ऐसा भेदभाव मुनियों के मन में क्यों है ?-

यह भेदभाव नहीं है प्रत्युत् व्यवस्था है। देखिये! मुनिलिंग सर्वथा पूज्य है अतः वे लघु मुनियों के नमोस्तु करने पर 'नमोस्तु' द्वारा ही प्रतिवंदना करते हैं। आर्यिका, क्षुल्लक आदि व्रतिकगण रत्नत्रय को धारण किये हुए हैं उनका अंत में समाधिपूर्वक मरण हो, अंत तक वे अपने व्रतों को पालन करते रहें अथवा धर्मध्यान और शुक्लध्यान का नाम समाधि है वह उनको प्राप्त होवें उनके लिये ऐसा आशीर्वाद उचित ही है। सामान्य श्रावक धर्म को धारण कर रहे हैं। उनके उस सच्चे धर्म की वृद्धि हो अतः 'सद्धर्मवृद्धिः' आशीर्वाद है। धर्म बाह्य लोगों को 'धर्मलाभोऽस्तु' आशीर्वाद उनके धर्म के लाभ में निमित्त बनता है तथा हिंसा आदि पाप में प्रवृत्त हुए लोगों का जब तक पाप क्षीण नहीं होगा तब तक वे धर्म को धारण करने के लिए पात्र नहीं हो पायेंगे अतः 'पापंक्षयोऽस्तु' आशीर्वाद उनके लिये ठीक ही है।

5.12 पहले मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिये-

शंका—मुनियों के लिए उत्कृष्ट उपदेश देने का ही विधान आया है। जैसे—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्।।18।।

जो अल्पमति मुनि यति धर्म का उपदेश न देकर गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है उसको भगवान के शासन में प्रायश्चित का भागी बतलाया है पुनः मुनि गृहस्थधर्म का उपदेश कैसे दे सकते हैं ?

समाधान—यह सर्वथा एकांत नहीं है क्योंकि मुनि के पास कोई उच्चवर्णी श्रावक या राजा आदि पहुँचते हैं तो वे उन्हें वैसा ही उपदेश देते हैं क्योंकि वे पात्र हैं, मुनिपद धारण कर सकते हैं। जैसे कि सोमदत्त ब्राह्मण गुरु के पास पहुँचकर उपदेश सुनने की इच्छा व्यक्त करता है तब मुनि उपदेश देते हैं जिससे वह विरक्त होकर मुनि बन जाता है और अपनी गर्भवती पत्नी की भी परवाह नहीं करता है किन्तु ऐसे पात्र सब नहीं हैं अतः साधारणजन के लिए श्रावक धर्म का और जो श्रावक नहीं हैं उन्हें मद्य, माँस आदि के त्याग का ही उपदेश देना आगम सम्मत है।

श्री कुंदकुंदस्वामी भी मुनि को पूजा आदि का उपदेश देने के लिए कहते हैं—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य।।248।।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान का उपदेश देना, शिष्यों का संग्रह करना और उनका पोषण करना तथा जिनेन्द्रदेव की पूजा का उपदेश देना यह सरागी मुनियों की चर्या है। यहाँ जिनेन्द्रपूजा का उपदेश श्रावक धर्म से ही सम्बन्ध रखता है।

5.13 क्या मद्य, माँस आदि का त्याग और दया-दान का उपदेश भगवान ने दिया है ?-

श्री गौतमस्वामी ने स्पष्ट कहा है कि श्रावक के लिए मद्य, माँस, मधु का त्याग व बारह व्रतों का उपदेश भगवान महावीर ने दिया है।

वे कहते हैं कि—

''श्रुतं मे आयुष्मन्तः इत्यादि'' हे आयुष्मन् भव्यों! मैंने सुना है कि भगवान महावीर ने मद्य, माँसादि का त्याग और पाँच अणुव्रत आदि गृहस्थ धर्म का ''उपदेसिदाणि'' उपदेश दिया है।''

इसमें अहिंसाणुव्रत में दया और अतिथिसंविभाग में दान का उपदेश है ही है तथा श्री कुंदकुंददेव की गाथा से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यवर्ग संघ में शिष्यों का संग्रह भी करते हैं, उनका ज्ञान आदि के द्वारा तथा व्याधि के होने पर वैयावृत्य आदि के द्वारा पोषण भी करते हैं।

5.14 गृहस्थ रत्नत्रय का उपदेश दे सकते हैं क्या ?-

श्रावक या अविरत सम्यग्दृष्टिजन, श्रावकों को रत्नत्रय का—मुनिधर्म का या शुद्धोपयोग का—उपदेश देने के अधिकारी नहीं है। वे तो अपने सदृश श्रावकों को श्रावक धर्म का ही उपदेश दे सकते हैं। पहली बात तो यह है कि कोई भी विद्वान पंडित यदि किसी को मुनिधर्म का उपदेश देता है तो वह हास्यास्पद ही प्रतीत होता है। दूसरी बात यह है कि आगम की भी उन्हें वैसी आज्ञा नहीं है—

यथा—'**दयाबुद्धीए साहूणं णाणदंसणचरित्तपरिच्चागो दाणं पासुअ-परिचागताणाम। ण चेदं कारणं घरत्थेसु संभवदि तत्थ चरित्ताभावादो। तिरयणुवदेसो वि ण घरत्थेसु अत्थि, तेसिं दिट्ठिवादादिउवरिमसुत्तोवदेसणे अहियाराभावादो। तदो एदे कारणं महेसिणं चेव होदि।**

''दया बुद्धि से साधुओं के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन व चारित्र के दान का नाम प्रासुक परित्यागता है। यह कारण गृहस्थों में संभव नहीं है, क्योंकि उनमें चारित्र का अभाव है। **रत्नत्रय का उपदेश देना भी गृहस्थों में संभव नहीं है,** क्योंकि दृष्टिवाद आदि उपरिमश्रुत के उपदेश देने में उनका अधिकार नहीं है अतएव यह कारण महर्षियों के ही होता है।''

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि विद्वान् लोग यदि उपदेष्टा बनते हैं तो वे श्रावकाचार और प्रथमानुयोग का ही उपदेश देवें, मूलाचार तथा समयसार का नहीं, चूँकि मूलाचार में मुनियों के व्यवहार रत्नत्रय का और समयसार, नियमसार, प्रवचनसार में तो मुख्यता निश्चयरत्नत्रय का व गौणतया व्यवहार रत्नत्रय का ही वर्णन है।

गुरु के गुण, शिष्य के लक्षण, पापभीरुता आदि जो भी बातें अध्ययन में बतलाई हैं वे सभी बातें प्रवचन करने वाले विद्वान में भी आवश्यक हैं। सर्वोत्तम उपदेशक तो मुनि ही होते हैं। यदि कोई विद्वान् पंडित हैं तो उन्हें भी देशचारित्रधारी होना चाहिए। कम से कम पाँच अणुव्रत तो उन्हें भी अवश्य होना चाहिए। पुनः पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसार किसी न किसी शास्त्र के आधार से पूर्वापर से अविरुद्ध अर्थ करते हुए प्रवचन करना चाहिए। प्रवचन करते समय मध्य में प्रश्नोत्तर की परम्परा न रखकर अंत में प्रश्नों के लिये श्रोताओं को अवकाश देना चाहिए। उपदेश के मध्य में प्रश्नोत्तर होने से सभा में उपदेश का क्रम भंग हो जाने से सभा में अशांति हो जाती है। अनंतर भी प्रश्नों को सुनकर वक्ता को बहुत ही गंभीर मुद्रा में शांति से आगम के आधार से उत्तर देना चाहिये। उत्तर देते समय उत्तेजित नहीं होना चाहिए और न गलत शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

उपदेश में क्या-क्या विषय लेना चाहिए ? इसके लिए धवलाकार ने भी चार प्रकार की कथाओं के कहने का आदेश दिया है।

5.15 चार प्रकार की कथायें-

धवला में चार प्रकार की कथाओं का वर्णन आया है—

प्रश्नव्याकरण नाम का दशवां अंग आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन करता है।

1. आक्षेपणी—जो नाना प्रकार की एकांत दृष्टियों का और दूसरे समयों का निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्य और नव पदार्थों का प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं।

2. विक्षेपणी—जिसमें परसमय के द्वारा स्वसमय में दोष बतलाये जाते हैं अनंतर परसमय की आधारभूत अनेक एकांत दृष्टियों का शोधन करके स्वसमय की स्थापना की जाती है। छह द्रव्य और नौ पदार्थों का निरूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कहते हैं।

3. संवेदनी—पुण्य के फल का वर्णन करने वाली कथा को संवेदनी कथा कहते हैं।

शंका—पुण्य के फल कौन से हैं ?

समाधान—'तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियाँ पुण्य के फल हैं।"

4. निर्वेदनी—पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते हैं।

शंका—पाप के फल कौन से हैं ?

समाधान—नरक, तिर्यंच और कुमानुष योनियों में जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र्य आदि की प्राप्ति पाप के फल हैं अथवा संसार, शरीर और भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करने वाली कथा को निर्वेदनी कहते हैं।

इन कथाओं के कहते समय जो जिनवचन को नहीं जानता है ऐसे पुरुष को विक्षेपणी कथा का उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि जिसने स्वसमय के रहस्य को नहीं जाना है वह परसमय की प्रतिपादन करने वाली कथाओं के सुनने से व्याकुलचित्त होकर मिथ्यात्व को स्वीकार न कर लेवे, अतः उसके लिए इस कथा का निषेध है। उक्त तीन कथाओं द्वारा जिसने स्वसमय को अच्छी तरह समझ लिया है, जो पुण्य और पाप के स्वरूप को जानता है, जिस तरह मज्जा अर्थात् हड्डियों के मध्य में रहने वाला रस हड्डी से संसक्त होकर ही शरीर में रहता है उसी तरह जो जिनशासन में अनुरक्त है, जिनशासन में जिसको किसी प्रकार की विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रति से विरक्त है और जो तप, शील और नियम से युक्त है ऐसे पुरुष को ही पश्चात् विक्षेपणी कथा का उपदेश देना चाहिए। प्ररूपण करके उत्तमरूप से ज्ञान कराने वाले के लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो जाती है। इसलिये योग्य पुरुष को प्राप्त करके ही साधु को कथा का उपदेश देना चाहिए।'

इससे यह तात्पर्य हुआ कि द्रव्यसंग्रह, तत्त्वार्थसूत्र, सवार्थसिद्धि, गोम्मटसार आदि ग्रंथ आक्षेपणी कथा में आ जायेंगे। न्याय कुमुदचंद्र, अष्टसहस्री आदि ग्रंथ विक्षेपणी कथा के अंतर्गत हो सकते हैं क्योंकि इनमें पर संप्रदाय के पूर्वपक्ष रखे जाते हैं पुनः उनका खंडन किया जाता है।

तिलोयपण्णत्ति, आदिपुराण, पद्मपुराण आदि ग्रंथों में पुण्य और पाप का फल तथा तीर्थंकर के महाकल्याणक व गणधरों की ऋद्धियों आदि के वर्णन होने से ये ग्रंथ संवेदनी और निर्वेदनी कथा के अंतर्गत आ जाते हैं।

उसी प्रकार से वसुनंदि श्रावकाचार, रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि में तथा भगवती आराधना, मूलाचार आदि में सम्यक्त्व, व्रत आदि के लक्षण व उनसे होने वाले देवगति, मोक्षगति आदि का वर्णन तथा उनके न पालने से या उनको ग्रहण कर भंग कर देने से नरक, निगोद आदि दुर्गति में जाने का भय दिखाया गया है। अतः ये आचार ग्रंथ भी इन दो कथाओं में गर्भित किये जा सकते हैं।

इस प्रकार इन चार कथाओं और प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोगों के ग्रंथों का अध्ययन-अध्यापन व प्रवचन

करना चाहिए। ये सभी केवलज्ञान प्रकट होने में साधन हैं और रत्नत्रय की प्राप्ति कराने वाले हैं।

5.16 प्रवचनकर्ता के आवश्यक गुण-

1. प्रवचनकर्ता विद्वान् को सच्चे देव, शास्त्र और गुरु पर दृढ़ श्रद्धान होना चाहिये।

2. चारों अनुयोगों का स्वाध्याय करके उनका तलस्पर्शी ज्ञान होना चाहिये।

3. कम से कम पाँच अणुव्रतों का पालन, सप्त व्यसन, रात्रि भोजन और अभक्ष्यभक्षण का त्याग अवश्य होना चाहिए। पर्व के दिनों में शुद्ध भोजन करने वाला तथा कुलीन और शीलवान होना चाहिये।

4. नित्य ही देव पूजा, गुरुभक्ति आदि करने वाला होना चाहिए। कम से कम देवदर्शन का नियम तो अवश्य ही होना चाहिये।

5. स्वाध्यायप्रेमी, शांतचित्त और गम्भीर ह्येाा चाहिये।

6. पूर्वाचार्यों के ग्रंथों को साक्षात् भगवान की वाणी बताते हुये उन ग्रंथों के प्रति व उनके रचयिता आचार्यों के प्रति सभा में श्रद्धा का स्रोत प्रवाहित कर देना चाहिए।

7. चारित्र की दुर्लभता और उपादेयता का वर्णन करते हुए वर्तमान के चारित्रधारी त्यागी-व्रतियों के प्रति श्रद्धालु बनाते हुये श्रावकों को उनकी भक्ति करने की व शक्त्यनुसार देशचारित्र ग्रहण करने की प्रेरणा देनी चाहिए।

8. निश्चयनय और व्यवहारनय के विषय को सही समझाकर व्यवहार कहाँ तक उपादेय है और निश्चय कहाँ से प्रारंभ होता है ? इस पर विशद प्रकाश डालना चाहिये।

9. 'मैं एक भी शब्द यदि आगम के विरुद्ध बोल दूँगा, तो निगोद का भागी हो जाऊँगा, ऐसे भय से सहित होकर जिनेन्द्रदेव की आज्ञा के भंग से सदैव डरते रहना चाहिये।

10. किसी के दबाव से या ख्याति, लाभ, पूजादि की लालसा से कभी भी आगम विरुद्ध प्रतिपादन नहीं करना चाहिये और न आगम विरुद्ध कथन का समर्थन ही करना चाहिये।

11. उपदेश की सभा में प्रश्नोत्तर न रखकर उससे अतिरिक्त समय में प्रश्नों के लिये समय देना चाहिये क्योंकि सभा के मध्य प्रश्नोत्तर से उपदेश का क्रम भंग हो जाता है।

12. यदि कदाचित् सभा में प्रश्न आ भी जावें तो शांति से उनका आगम के अनुकूल उत्तर देना चाहिये। कैसे ही प्रश्न क्यों न हों, किन्तु उत्तेजित नहीं होना चाहिये। शांति से यदि समस्या न सुलझे तो मौनपूर्वक सभा विसर्जित कर देनी चाहिये। पुनः वार्तालाप करना चाहिये, किन्तु उपदेश की गद्दी से अतिचर्चा या विसंवाद नहीं करना चाहिए।

13. उपदेश में ग्राम्य, अश्लील या हल्के शब्दों का तथा ऐसे ही हीन उदाहरणों का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

14. उपदेश में उदाहरण प्रायः अपने प्रथमानुयोग से ही लेना चाहिये। इससे श्रोताओं को अपने सही इतिहास का ज्ञान भी हो जाता है और प्रामाणिकता भी रहती है। यदि कदाचित् अन्य कोई श्वेताम्बर कथायें या अन्य सम्प्रदाय की कथायें कहें भी तो उन्हें स्पष्ट कर देना चाहिये कि यह कथा श्वेताम्बर मत के आधार से है अथवा अन्य सम्प्रदाय की है।

15. तेरहपंथ-बीसपंथ की चर्चा उपदेश में नहीं लाना चाहिये। यदि कोई समझना चाहता है तो उसे पृथक् से आगम के प्रमाण दिखा देना चाहिये। चूँकि इस पंथभेद का उल्लेख आगम में तो है नहीं, वर्तमान में मात्र यह पूजन पद्धति से ही संबंध रखता है। अतः इस विषय को सभा में मुख्य नहीं करना चाहिये।

16. सभा में श्रीमन्तों आदि के बार-बार नाम नहीं लेना चाहिए, प्रायः इससे पक्षपात का वातावरण बन जाता है।

17. वर्तमान के विवादास्पद विषयों में किसी का व्यक्तिगत नाम लेकर उसकी निंदा सभा में नहीं करनी चाहिये। किसी के प्रति आक्षेप, किसी की भर्त्सना या आलोचना सभा में नहीं करना चाहिये।

18. उपदेश करते समय भौहें नहीं चलाना चाहिए, न उँगलियाँ चटकाना चाहिये। गंभीर मुद्रा में बैठकर या खड़े

होकर न अति उच्च और न अति धीमे किन्तु मध्यम स्वर से मधुर शब्दों में उपदेश करना चाहिये। कदाचित् बड़ी सभा में उच्च स्वर से भी बोलना पड़े तो बोल सकते हैं किन्तु शब्दों में कर्कषता (कठोरता) नहीं होनी चाहिये।

19. शुभभाव कब छूटते हैं ? किस नय से या किस गुणस्थान में वे हेय हैं ? श्रावकों का कर्त्तव्य क्या है ? इन विषयों पर स्पष्ट विवेचन करना चाहिये।

20. सार्वजनिक सभाओं में मद्य, माँस, मधु त्याग, सप्त व्यसन त्याग, अहिंसा का पालन और पाँच अणुव्रत ग्रहण आदि का उपदेश प्रधान रखना चाहिये। सम्यक्त्व व मिथ्यात्व की चर्चा गौण रखनी चाहिए।

21. उपदेश के विषय का चयन प्रायः श्रोताओं की योग्यता के अनुरूप होना चाहिये, उनकी इच्छा के अनुरूप नहीं।

5.17 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-गुरु कैसे हों ?

प्रश्न 2-शिष्य कैसे हों ?

प्रश्न 3-शास्त्र अध्यापन का क्रम बताइये ?

प्रश्न 4-श्रावक का कर्त्तव्य क्या है ?

प्रश्न 5-प्रवचनकर्त्ता के आवश्यक गुणों का उल्लेख कीजिए ?

इकाई–5 अनेकांत और स्याद्वाद

इस इकाई में मुख्यरूप से निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है-

(1) अनेकांत

(2) स्याद्वाद

(3) सप्तभंगी

पाठ-1 – अनेकांत

1.1 अनेकांत जैन दर्शन का हृदय है। समस्त जैन वाङ्मय अनेकांत के आधार पर वर्णित हैं, उसके बिना जैन दर्शन को समझ पाना दुष्कर है। अनेकांत दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो वस्तु तत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार वस्तु बहुआयामी है। उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुण धर्म हैं। हम अपनी एकांत दृष्टि से वस्तु का समय बोध नहीं कर सकते। वस्तु के समग्र बोध के लिए समग्र दृष्टि अपनाने की जरूरत है। वह अनेकांतात्मक दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। अनेकांत दर्शन बहुत व्यापक है, इसके बिना लोक–व्यवहार भी नहीं चल सकता। समस्त व्यवहार और विचार इसी अनेकांत की सुदृढ़ भूमि पर ही टिका है। अतः उसके स्वरूप को जान लेता भी जरूरी है।

1.2 अनेकांत का अर्थ—

'अनेकांत' शब्द 'अनेक' और 'अंत' इन दो शब्दों के सम्मेल से बना है। 'अनेक का अर्थ होता है एक से अधिक, नाना। 'अंत' का अर्थ है धर्म। (यद्यपि अंत का अर्थ विनाश, छोर आदि भी होता है पर वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है।) जैन दर्शन के अनुसार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण–धर्मों का पिंड है। वह सत् भी है असत् भी एक भी है अनेक भी, नित्य भी है अनित्य भी। इस प्रकार परस्पर विरोधी अनेकों धर्म युगल वस्तु में अंतगर्भित है। उसका परिज्ञान हमें एकांत दृष्टि से नहीं हो सकता, उसके लिए अनेकांतात्मक दृष्टि चाहिए।

1.3 वस्तु अनेकांतात्मक है—

प्रत्येक पदार्थ जहाँ अपने स्वरूप की अपेक्षा सत् है वहीं पर रूप की अपेक्षा वह असत् भी है। यथा–घट अपने स्वरूप की अपेक्षा ही सत् है वहीं पर रूप की अपेक्षा असत् है। इसी तरह वह अपने अखंड गुण–धर्मों की अपेक्षा एक है तथा अपने रूप, रस आदि अनेक गुणों की अपेक्षा अनेक है। प्रत्येक पदार्थ में प्रति समय 'उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक' परिणमन होता आ रहा है। प्रतिसमय परिणमनशील होने के बाद भी उसकी चिरसंतति सर्वथा अच्छिन्न नहीं होती इसलिए वह नित्य है तथा उसकी पर्याय प्रति समय बदल रही है इस अपेक्षा से वह अनित्य भी है। इस प्रकार वस्तु परस्पर विरोधी अनेक गुण–धर्मों का पिंड है। इस दृष्टि से हम कहें कि वस्तु बहुमुखी है, बहुआयामी है। उसके एक पक्ष को ग्रहण करके उसका पूर्ण परिचय नहीं पाया जा सकता है। हम अपने एकांगी/एक कोंणिक/ एक पक्षीय दृष्टि से वस्तु के एकांश को ही जान सकते हैं। वस्तु के विराट स्वरूप को बहुमुखीन दृष्टि से ही समझा जा सकता है, तभी उसका समग्र बोध होगा। इस प्रकार अनेकांत का अर्थ हुआ वस्तु का समग्र बोध कराने वाली दृष्टि।

1.4 विरोध में अविरोध कैसे ?—

एक ही वस्तु परस्पर विरोधी धर्म वाली कैसे हो सकती है ? यह बात सामान्य व्यक्ति के मन में उठ सकती है। किंतु हम वस्तु तत्त्व पर गहराई से विचार करें जो जगत् के चराचर सभी पदार्थ परस्पर विरोधी ही दिखाई पड़ेंगे। यह सब

अनेकांतात्मक दृष्टि पर ही संभव है, क्योंकि वस्तु को हम जैसा देखना चाहें वस्तु हमें वैसी ही दिखती है। पानी से भरे आधे गिलास को हम यह भी कह सकते हैं कि 'गिलास आधा भरा है' तथा यह भी कहा जा सकता है कि 'गिलास आधा खाली है।' यह सब देखने वाले की दृष्टि पर निर्भर है, क्योंकि गिलास खाली भी है और उसी समय भरा भी है। यदि हम एकांत आग्रहपूर्वक 'गिलास आधा भरा ही है', 'गिलास आधा खाली ही है', ऐसा कहते हैं तो यह गिलास के साथ अन्याय होगा। यथार्थतः वह खाली और भरा दोनों है। इसी प्रकार जगत् के प्रत्येक पदार्थ हमें अनेकांतात्मक दिखते हैं। आज के वैज्ञानिक युग में यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। एक ही अणु में जहाँ आकर्षण शक्ति विद्यमान है, वहां विकर्षण शक्ति भी अपना समान अस्तित्व रखती है। उसमें जहाँ संहारकारी शक्ति विद्यमान है वहीं उसमें स्थित–निर्माणकारी शक्ति भी अपना परिचय दे रही है।

जल हमारे जीवन का प्रमुख आधार है। उसके पीने से हमारी प्राण रक्षा होती है, वहीं जल तैरते समय गुटका लग जाने से जान लेवा सिद्ध होता है। अग्नि हमारे लिए बहुत उपकारक है, यह सभी जानते हैं। वह हमारे भोजन आदि के निर्माण में सहायक होती है; किंतु वहीं अग्नि जब किसी मकान में लग जाती है, तब वह कितनी संहारक होती है, कहने की जरूरत नहीं। इस प्रकार एक ही अग्नि में पाचकत्व और दाहकत्व जैसे दो विरोधी धर्म हमें दिखते ही हैं। जिस भोजन से हमारी क्षुधा दूर होती है, जो भोजन भूखे का प्राण रक्षक होता है; वहीं भोजन किसी अजीर्णग्रस्त रोगी के लिए विष साबित होता है। विष जो हमारे प्राणों का घातक है वही वैद्यों द्वारा कभी–कभी औषधि के रूप में दिया जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु विष और अमृत दोनों है।

एकान्तवादियों को यह बात समझ में नहीं आ सकती। वे कहते हैं कि "इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दो धर्मों को स्वीकार करने पर विरोध उपस्थित होता है।" लेकिन विरोध देखने वाले की दृष्टि में हो सकता है, विरोध वस्तु में नहीं है। वस्तु तो अनेक विरोधी धर्मों का अविरोधी आश्रय स्थल है। विरोध तो तब होता जब अग्नि को जिस दृष्टि से पाचक कहा जाए उसी दृष्टि से दाहक कहते, किंतु जब परस्पर विरोधी धर्मों का भिन्न–भिन्न दृष्टियों से सापेक्ष कथन किया जाता है तब विरोध की कोई संभावना नहीं रहती। सब कुछ सापेक्ष ही है। इसे इस उदारहण से समझें–

शिक्षक ने छात्रों के सामने बोर्ड पर एक रेखा खींची और कहा कि "इस रेखा को बिना मिटाए छोटी करो।" सभी छात्र सोच में पड़ गये कि रेखा को मिटाए बिना उसे छोटी कैसे किया जा सकता है ? किंतु एक चतुर छात्र उठा उसने चॉक उठाया और उस रेखा के नीचे बड़ी रेखा खींच दी। पहली रेखा आपों–आप छोटी हो गयी। सारे छात्र चकित थे। शिक्षक ने पुनः कहा "अब इस रेखा को छोटी करो।।" छात्र पुनः उठा और उसके नीचे एक बड़ी रेखा और खींच दी। वह रेखा भी छोटी हो गयी। इस प्रकार एक ही रेखा किसी अपेक्षा से बड़ी है तो किसी अपेक्षा से छोटी भी है। इस उदाहरण में सिर्फ इतना ही बताना है कि उस रेखा में 'लघुत्व' और 'दीर्घत्व' परस्पर विरुद्ध धर्म स्वरूपतः विद्यमान है और उसके ऊपर खींची गयी बड़ी और छोटी रेखाओं के कारण उसमें छोटेपन और बड़ेपन की अपेक्षा से व्यवहार हुआ। इससे स्पष्ट है कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म विद्यमान हैं। परस्पर विरोधी धर्मों का सही मूल्यांकन सापेक्ष/अनेकांत दृष्टि अपनाने पर ही संभव है। यदि हम वस्तु के एक धर्म को पकड़कर उसमें ही पूरी वस्तु का निश्चय कर बैठते हैं तो हमें वस्तु का सही परिज्ञान नहीं हो सकता।

1.5 सत्य साधक दृष्टि—

यह अनेकांत दृष्टि हमें एकांगी विचार से बचाकर सर्वांगीण विचार के लिए प्रेरित करती है। इसका परिणाम होता है कि हम सत्य को समझने लगते हैं। सत्य को समझने के लिए अनेकांत दृष्टि ही एकमात्र साधन है। जो विचारक वस्तु के अनेकांत धर्म को अपनी दृष्टि से ओझल कर उसके किसी एक ही धर्म को पकड़कर बैठ जाते हैं, वे सत्य को नहीं पा सकते।

वस्तु के उक्त स्वरूप को नहीं समझ पाने के कारण ही विभिन्न मतवादों की उद्‌भूति हुई हैं तथा सब अपने मत को सत्य मानने के साथ–साथ दूसरे के मत को असत्य करार दे रहे हैं। नित्यवादी पदार्थ के नित्य अंश को पकड़कर अनित्यवादियों को भला–बुरा कहता है, तो अनित्यवादी नित्यवादियों को उखाड़ फेंकने की कोशिश में है। सभी वस्तु के एक पक्ष को ग्रहण कर सत्यांश को ही सत्य मानने का दुरभिमान कर बैठे हैं। अनेकांत दृष्टि कहती है कि ''भाई! वस्तु को समग्रतः जानने के लिए समग्र दृष्टि की जरूरत है। हम अपने एकांत दृष्टि से वस्तु के एक अंश को ही जान सकते हैं, सत्यांश कभी भी पूर्ण सत्य नहीं हो सकता। वस्तु के विविध संदर्भों पर विचार करने पर ही उसका संपूर्ण बोध हो सकता है। वस्तु के एक अंश को जानकर उसे ही पूर्ण वस्तु मान बैठना हमारी भूल है। उसके विभिन्न पहलुओं को मिलाने का प्रयास करो, वस्तु अपने पूर्ण रूप में साकार हो उठेगी।'' इस तथ्य को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं–

मान लीजिए हिमालय पर अनेक पर्वतारोही विभिन्न दिशाओं से चढ़ते हैं और भिन्न–भिन्न दिशाओं से उसके चित्र खींचते हैं। कोई पूर्व से, कोई पश्चिम से, कोई उत्तर से, कोई दक्षिण से। यह तो निश्चित है कि भिन्न दिशाओं से लिए गए चित्र भी एक–दूसरे से भिन्न होंगे। फलतः वह एक–दूसरे से विपरीत दिखाई पड़ेंगे। ऐसी स्थिति में कोई हिमालय के एक ही दिशा के चित्र को सही बताकर अन्य दिशा के चित्रों को झूठा बताए या उसे हिमालय का मानने से स्पष्ट इंकार कर दे तो उसे हम क्या कहेंगे ?

वस्तुतः सभी चित्र एकपक्षीय हैं। हिमालय का एकदेशीय प्रतिबिंब ही उसमें अंकित है किंतु हम उन्हें असत्य या अवास्तविक तो नहीं कह सकते। सब चित्रों को यथाक्रम मिलाया जाए तो हिमालय का पूर्ण चित्र अपने–आप हाथ आ जाएगा। खंड–खंड हिमालय अखंड आकृति ले लेगा और इसके साथ ही हिमालय के दृश्यों का खंडित सौंदर्य अखंडित सत्य की अनुभूति को अभिव्यक्ति देगा।

यही बात वस्तुगत सत्य के साथ है। हम वस्तु के एकपक्ष से उसके समग्र रूप को नहीं जान सकते। वस्तु के विभिन्न पक्षों को अपने नाना संदर्भों के बीच सुंदर समन्वय स्थापित करने के बाद ही हम वास्तविक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

1.6 अनेकांत की आवश्यकता—

वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिए अनेकांत की महती आवश्यकता है। किसी वस्तु/बात को ठीक–ठीक न समझकर उसके ऊपर अपने हठपूर्ण विचार अथवा एकांत आग्रह लादने पर बड़े अनर्थों की संभावना रहती है। इस विषय में एक परंपरित कथा है–

एक गांव में पहली बार हाथी आया। गांव वालों ने अब तक हाथी देखा नहीं था। वे हाथी से पूरी तरह अपरिचित थे। उस गांव में पांच अंधे भी रहते थे। उन्होंने भी जब सुना कि गांव में हाथी आया है तो सभी की तरह वे भी प्रदर्शन स्थल पर पहुंचे। आंखों के अभाव में सबने हाथी को छूकर अलग–अलग देखा। उनमें से एक ने कहा— हाथी रस्सी की तरह है, क्योंकि उसने पूंछ को छुआ था। दूसरे ने उसके पैर को छुआ और कहा कि—''हाथी तो खंभे जैसी कोई आकृति है।'' तीसरे ने हाथी की सूंड को छुआ और कहा, ''अरे ! यह तो कोई झूलने वाली वस्तु की आकृति का प्राणी है।'' चौथे ने हाथी के पेट/धड़ को छुआ और कहा ''हाथी तो दीवार की तरह है।'' पांचवें ने उसके कान को स्पर्श किया और कहा, ''हो न हो यह तो सूप की आकृति वाला कोई प्राणी है।'' अलग–अलग अनुभवों के आधार पर पांचों के अपने–अपने निष्कर्ष थे। पांचों ने हाथी को अंशों में जाना था। परिणामतः पांचों एक जगह बैठकर हाथी के विषय में झगड़ने लगे। सब अपनी–अपनी बात पर अड़े थे। इतने में एक समझदार आंख वाला व्यक्ति आया। उसने उनके विवाद का कारण जानकर कहा, ''भाई झगड़ते क्यों हो ? तुम सब अंधेरे में हो, तुममें से किसी ने भी हाथी को पूर्ण नहीं जाना है। केवल हाथी के एक अंश को जानकर और उसी को पूर्ण हाथी समझकर आपस में लड़ रहे हो। ध्यान से सुनो–मैं

तुम्हें हाथी का पूर्णरूप बताता हूँ। कान, पेट, पैर, सूंड और पूंछ आदि सभी अवयवों को मिलाने पर हाथी का पूर्ण रूप होता है। कान पकड़ने वालों ने समझ लिया कि हाथी इतना ही है और ऐसा ही है। पैर आदि पकड़ने वालों ने भी ऐसा ही समझा है; लेकिन तुम लोगों का ऐसा समझना कूप–मंडूकता है। कुंए में रहने वाला मेंढक समझता है संसार इतना ही है। हाथी का स्वरूप केवल कान, पैर आदि ही नहीं है, किन्तु कान–पैर आदि सभी अवयवों को मिला देने पर ही हाथी का पूर्ण रूप बनता है।" अंधों को बात समझ में आ गयी। उन्हें अपनी–अपनी एकांत दृष्टि पर पश्चाताप हुआ। सभी ने हाथी विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर संतोष का अनुभव किया।

1.7 समन्वय का श्रेष्ठ साधन-अनेकांत—

यथार्थ में अनेकांत पूर्णदर्शी है और एकांत अपूर्णदर्शी। सबसे बुरी बात तो यह है कि 'एकांत' मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान बैठता है और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है; लेकिन अनेकांत उस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता हैं

इस प्रकार अनेकांत दृष्टि वस्तु तत्त्व के विभिन्न पक्षों को तत्त्वदृष्टि से स्वीकार कर समन्वय का श्रेष्ठ साधन बनता है। अनेकांत दृष्टि का अर्थ ही यही है कि प्रत्येक व्यक्ति की बात को सहानुभूतिपूर्वक विचार कर परस्पर सौजन्य और सौहार्द स्थापित करें। अपने एकांत और संकीर्ण विचारधारा के कारण ही आज कलह और कलुषता की स्थिति निर्मित होती जा रही है। किन्तु संकीर्ण दायरों से मुक्त होकर जहाँ प्रत्येक व्यक्ति की बात का सहानुभूतिपूर्वक विचार कर उसका समुचित आदर किया जाता है वहाँ कलह और कलुषता की कोई गुंजाइश ही नहीं रहती।

आज वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक या जीवन के किसी भी क्षेत्र में हमारे एकांतिक रुख के कारण ही विसंवाद हो रहे हैं। इस क्षेत्र में अनेकांत दृष्टि बहुत उपयोगी है, क्योंकि अनेकांत दृष्टि सिर्फ अपनी ही बात नहीं करती, अपितु सामने वाले की बात को भी धैर्यपूर्वक सुनती है। जहाँ सिर्फ अपनी ही बात का आग्रह होता है सत्य हमसे दूर हो जाता है। परन्तु जहाँ अपनी बात के साथ–साथ दूसरों की बात की भी सहज स्वीकृति रहती है, सत्य का सुंदर फूल वहीं खिलता है। एकांत 'ही' का प्रतीक है तो अनेकांत 'भी' का। जहां 'ही' का आग्रह होता है वहां संघर्ष जन्म लेता है तथा जहां 'भी' की अनुगूंज होती है वहां समन्वय की सुरभि फैलती है। 'ही' में कलह है 'भी' में समन्वय, 'ही' में आग्रह है 'भी' में अपेक्षा। कहा गया है कि 'आग्रहशील व्यक्ति युक्तियों को खींचतान कर वहीं ले जाता है जहां पहले से ही उसकी बुद्धि जमी होती है'। किन्तु पक्षपात से रहित मध्यस्थ व्यक्ति अपनी बुद्धि को वहीं ले जाता है जहाँ उसे युक्तियाँ ले जाती हैं।

अनेकांत दर्शन यही सिखाता है कि युक्ति सिद्ध वस्तु स्वरूप को ही शुद्ध दृष्टि से स्वीकार करना चाहिए, बुद्धि का यही वास्तविक फल है। जो एकांत के प्रति आग्रहशील है और दूसरों के सत्यांश को स्वीकारने के लिए तत्पर नहीं है, वह तत्त्वरूपी नवनीत को प्राप्त नहीं कर सकता। गोपी नवनीत तभी पाती है, जब वह मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है और दूसरे छोर को ढीला छोड़ती है। अगर वह एक ही छोर खींचे और दूसरे को ढीला न छोड़े तो नवनीत नहीं निकल सकता। इसी प्रकार जब एक दृष्टिकोण को गौण करके दूसरे दृष्टिकोण को प्रधानरूप से प्रकाशित किया जाता है, तभी सत्य का नवनीत हाथ लगता है। अतएव एकांत के गंदले पोखर से निकलकर अनेकांत के शीतल सरोवर में अवगाहित होना ही श्रेयस्कर है।

1.8 अन्य दर्शनों में अनेकांत शब्द का प्रयोग—

बुद्ध, न्याय, सांख्य, योग और मीमांसा दर्शनों में भी विभज्यवाद तथा अनेकांत शब्द के व्यवहार का निरूपण स्पष्ट है।

सांख्य दर्शन की तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया अनेकांत दृष्टि से निरूपित है। उसी प्रकार योगदर्शन के सूत्रों में भाष्य तथा तत्त्व वैशाखी को पढ़ने वाला सांख्य, योग दर्शन की दृष्टि को यथावत् समझा सकता है। कुमारिलभट्ट ने भी श्लोकवार्तिक

और अन्यत्र अपनी तत्त्व व्यवस्था में अनेकांत दृष्टि का उपयोग किया है।

यथार्थ दृष्टि से विचार करने पर अनेकांत पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी है। अनेकांत विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता है, ऐसे अनेकांत को शतशः प्रणाम है।

वस्तु के यथार्थ परिज्ञान के लिए अनेकांत दर्शन की महती आवश्यकता है। दुनिया में ऐसा कोई भी मत नहीं है जो भगवान महावीर की देशना से सर्वथा असम्बद्ध हो। 363 मतों के माध्यम से आने वाली किसी भी समस्या को जैनदर्शन का अनुयायी उसी प्रकार समाहित करता है, जिस प्रकार कुम्हड़े का डंठल कुम्हड़े को।

जैनदर्शन वकालत नहीं करता वरन जो वकालत करने के लिए विविध तर्कों से युक्त संघर्ष की मुद्रा में वकील आते हैं उन्हें साम्यभाव से सुनकर सही-सही निष्पक्ष निर्णय देता है। सामने वाला जो कहता है उसे नयापेक्षया सहर्ष स्वीकार कर लेता है।

अनेकांत विचारों की शुद्धि करता है। वह मानवों के मस्तिष्क से दूषित विचारों को दूरकर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए प्रत्येक मनुष्य का आह्वान करता है और कहता है कि वस्तु विराट एवं अनन्त धर्मात्मक है।

कवि ने लिखा भी है—

सभी वस्तुओं में अनेक धर्म, इस जग में पाये जाते हैं,
भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, जन इसको समझाते हैं।
अतः पराये दृष्टिकोणों पर, जनसमुदाय विचार करो,
पक्षपात तज अनेकान्तमय, पूर्ण सत्य व्यवहार करो।।

1.9 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1-अनेकांत से क्या आशय है ?

प्रश्न 2-अनेकांत की आवश्यकता क्यों है ?

प्रश्न 3-"अनेकांत समन्वय का श्रेष्ठ साधन है" इस कथन की विवेचना करिये ?

प्रश्न 4-अन्य दर्शनों में अनेकांत शब्द का किस प्रकार प्रयोग हुआ है ?

पाठ-2 — स्याद्वाद

2.1 जब वस्तु तत्त्व ही अनेकांत्मक है तो उसके प्ररूपण के लिए किसी भाषा–शैली को अपनाना भी जरूरी है। स्याद्वाद उसी भाषा–शैली का नाम है जिससे अनेकांत्मक वस्तु तत्त्व का प्ररूपण होता है। प्राय: अनेकांत और स्याद्वाद को पर्यायवाची मान लिया जाता है किन्तु दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अनेकांत ज्ञानात्मक है और स्याद्वाद वचनात्मक अनेकांत और स्याद्वाद में वाच्य वाचक संबंध है। अनेकांत वाच्य है तो स्याद्वाद वाचक, अनेकांत प्रतिपाद्य है तो स्याद्वाद प्रतिपादक। अत: अनेकांत और स्याद्वाद को पर्यायवाची नहीं कहा जा सकता। हाँ ! अनेकांतवाद और स्याद्वाद को पर्यायवाची कहा जा सकता है। वस्तुत: 'स्याद्वाद' अनेकांतात्मक वस्तु तत्त्व को अभिव्यक्त करने की प्रणाली है।

2.2 स्याद्वाद का अर्थ —

'स्याद्वाद' पद 'स्यात्' और 'वाद' इन दो शब्दों के योग से बना है। प्रकृत में स्यात् शब्द अव्ययनिपात है। क्रिया या प्रश्नादि रूप नहीं। इसका अर्थ है कथंचित किसी अपेक्षा से, किसी दृष्टि विशेष से। 'वाद' शब्द का अर्थ है मान्यता, कथन, वचन अथवा प्रतिपादन। जो 'स्यात्' का कथन अथवा प्रतिवादन करने वाला है वह स्याद्वाद है। इस प्रकार स्याद्वाद का अर्थ हुआ–विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से अनेकांतात्मक वस्तु का परस्पर सापेक्ष कथन करने की पद्धति। इसे कथंचित्वाद, अपेक्षावाद और सापेक्षवाद भी कहा जा सकता है।

स्याद्वाद वस्तु के परस्पर विरोधी धर्मों का निराकरण न करते हुए परस्पर मुख्य गौणता के साथ अनेकान्तात्मक वस्तु तत्व का प्रतिपादन करता है। हम यह जान चुके हैं कि वस्तु तत्त्व अनेकान्तात्मक है। उसे हम अपने ज्ञान के द्वारा जान तो सकते हैं किन्तु वाणी द्वारा उसका एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है। शब्द की एक सीमा होती है। वह एक बार में वस्तु के किसी एक धर्म का ही कथन कर सकता है, क्योंकि 'सकृदुच्चारित: शब्द: एकमेवार्थं गमयति' इस नियम के अनुसार एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थ का बोध कराता है। वक्ता अपने अभिप्राय को यदि एक ही वस्तु धर्म के साथ प्रकट करता है तो उससे वस्तु तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता। किंतु स्यात् पूर्वक अपने अभिप्राय को प्रकट करने से वस्तु स्वरूप का यथार्थ प्रतिपादन होता है, क्योंकि 'स्यात्' पूर्वक बोला गया वचन अपने अर्थ को कहता हुआ भी अन्य धर्मों का निषेध नहीं करता बल्कि उनकी मौन स्वीकृति बनाये रखता है। हाँ जिसे वह कहता है वह प्रधान हो जाता है और शेष गौण। क्योंकि जो विवक्षित होता है वह मुख्य कहलाता है। और अविवक्षित गौण। इस प्रकार स्याद्वाद वचन में अनेकांत सुव्यवस्थित रहता है।

2.3 स्याद्वाद का अर्थ शायदवाद नहीं —

स्याद्वाद के अर्थ को समझने में अनेक भारतीय दार्शनिकों ने भयानक भूल की है। वे 'स्यात्वाद' में 'स्यात्' पद का अर्थ फारसी के शायद से जोड़कर स्याद्वाद को शायदवाद, संदेहवाद, संभावनावाद अथवा कदाचित्वाद मानते हैं। खेद की बात तो यह है कि जैन ग्रंथों में इस पद का रहस्य समझाने वाले अनेक उल्लेखों के होने पर भी यह भ्रांत परम्परा अभी तक चली आ रही है।

'स्याद्वाद' के 'स्यात्' पद का अभिप्रेत अर्थ शायद, संभावना, संशय या कदाचित् आदि कदापि नहीं है, जिससे कि इसे शायदवाद, संशयवाद अथवा संभावनावाद कहा जा सके। जैन ग्रंथों में स्पष्टोल्लेख है कि 'स्यात्' शब्द अनेकांत का वाची शब्द है जो एक निश्चित दृष्टिकोण को प्रकट करता है। वस्तुत: मूल जैन ग्रंथों को नहीं देख पाने के कारण ही स्याद्वाद के विषय में इस प्रकार की धारणा बनी है। वर्षों से चली आ रही इस प्रकार की भ्रांत धारणा का उन्मूलन करते हुए काशी विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रह चुके स्व. प्रो.फणिभूषण अधिकारी ने बड़ी मार्मिक बात कही है। वे कहते हैं–"जैन धर्म के स्याद्वाद सिद्धांत को जितना गलत समझा गया है उतना अन्य किसी सिद्धांत को नहीं। यहां

तक कि शंकराचार्य भी इस दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के साथ अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान के लिए तो अक्षम्य ही कहूंगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूं। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रंथों को पढ़ने की परवाह नहीं की।''

इसी प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति महामहोपाध्याय स्व. डॉ. गंगानाथ ने लिखा है कि ''जब मैंने शंकराचार्य द्वारा जैन सिद्धांत का खंडन पढ़ा है तब से मुझे विश्वास हुआ कि इस सिद्धांत में बहुत कुछ है, जिसे वेदांत के आचार्यों ने नहीं समझा। और जो कुछ मैं जैन धर्म को अब तक जान सका हूं उससे मेरा यह दृढ़ विश्वास हुआ है कि यदि वे इस धर्म के मूल ग्रंथों को पढ़ने का कष्ट उठाते तो उन्हें जैन धर्म का विरोध करने की कोई बात ही नहीं मिलती।

स्यात् शब्द सुनिश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इस धर्म वाली ही नहीं है, उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं। वाणी के द्वारा वस्तु का एक साथ प्रतिपादन संभव नहीं है इसलिए जिस या जिन धर्मों का कथन किया जाता है वे प्रधान हो जाते हैं और शेष गौण। 'स्यात्' शब्द अन्य अविवक्षित गुण धर्मो के अस्तित्व की रक्षा करता है। जैसे यह कलम लंबी है, गोल है, मोटी है, स्पर्श रूपादि अनेक गुण–धर्म उसके अंदर विद्यमान हैं। यदि कोई कहे कि 'स्यात्' यह कलम लंबी है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि शायद कलम लंबी है। लंबाई की दृष्टि से तो कलम लंबी ही है लेकिन कोई कलम लंबी है, ऐसा सुनकर कलम को लंबी ही न मान बैठे, इसलिए स्यात् लगाया गया है। 'स्यात्' शब्द का सिर्फ इतना ही उद्देश्य है कि वस्तु के विवक्षित किसी एक धर्म को ही पूर्ण वस्तु न मान ली जाए। वह वस्तु के विवक्षित धर्मवाची शब्द को वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाने से रोकता है। 'स्यात्' शब्द कहता है कि ''वस्तु का अस्तित्व बहुत विराट है। भाई ! कलम ! यह सत्य है कि तुम लंबी हो पर तुम सिर्फ लंबी ही नहीं हो। इस समय शब्द के द्वारा उच्चारित होने के कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नहीं है कि सारी वस्तु पर ही तुम्हारा अधिकार हो। मोटाई, गोलाई आदि तुम्हारे शेष/अनंत धर्म भाई भी तुम्हारे ही तरह अस्तित्ववान हैं। वे भी उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि तुम।''

'स्यात्' शब्द के इसी रहस्य को उजागर करते हुए प्रो. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य ने लिखा है कि–'शब्द का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है इसलिए अन्य का प्रतिषेध करने में वह निरंकुश हो जाता है। उस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान घटः' वाक्य घट के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह रूपवान ही है यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गंध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे यहां तक तो कोई हानि नहीं पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थ को सब कुछ मान शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। स्यात् शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय वचन पद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अनुस्यूत रहता है, और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव में अनेकांत अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषा पद्धति है। स्यात् यह निश्चित रूप से बताता है कि वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समाएं हैं। उसमें अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा स्यात् शब्द करता है। 'रूपवान घटः' में 'स्यात्' शब्द रूपवान के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान' शब्द स्वयं ही दे रहा है। किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह रूपवान को पूरे घड़े पर अधिकार जमाने से रोकता है। और साफ कह देता है कि घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनंत धर्म हैं रूप भी उसमें एक है यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि से मुख्य है और वही शब्द के द्वारा वाच्य बन रहा है। पर रस की विवक्षा होने पर वह गौण राशि में शामिल हो जाएगा और रस प्रधान हो जाएगा। इस तरह समस्त शब्द गौण

मुख्य भाव से अनेकांत अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

यह पहले ही बताया गया है कि स्यात् शब्द एक सजग प्रहरी है जो उच्चरित धर्म को इधर–उधर नहीं जाने देता। वह अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिए जो 'स्यात्' का 'रूपवान' के साथ अन्वय करके उसका अर्थ शायद, संभावना और कदाचित करते हैं वे प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्तिघट:' इस वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता, किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य 'नास्ति' आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है वह पूरी वस्तु को ही न हड़प जाए और अपने नास्ति आदि अन्य सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रति वाथ्य में चेतावनी देता रहता है, "हे भाई ! अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा मत करना।" इस भय का कारण है कि प्राचीनकाल में 'नित्य ही है' अनित्य ही है आदि हड़पु प्रकृति के अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्णाधिकार जमाकर अनाधिकार चेष्टा की है और जगत् में अनेक प्रकार के वितंडा और संघर्ष उत्पन्न किए हैं। इसके फलस्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद–प्रतिवाद ने अनेक कुमतवाद की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशांत और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के उस जहर को निकल देता है जिससे अहंकार का सृजन होता है।"

2.4 स्याद्वाद, नित्य व्यवहार की वस्तु है—

यह स्याद्वाद हमारी नित्य व्यवहार की वस्तु है। इसकी उपादेयता को स्वीकार किए बिना हमारा लोक व्यवहार एक क्षण को भी नहीं चल सकता। लोक व्यवहार में हम देखते हैं कि एक ही व्यक्ति अपनी पिता की दृष्टि से पुत्र कहलाता है, वही अपने पुत्र की दृष्टि से पिता भी माना जाता है। इसी प्रकार अपने चाचा की अपेक्षा से भतीजा तो भतीजे की अपेक्षा से चाचा, तो मामा की अपेक्षा से भांजा और भांजे की अपेक्षा से मामा कहलाता है। इस प्रकार देखने से प्रतीत होता है कि पुत्र–पिता, चाचा–भतीजा, मामा–भांजा आदि सब रिश्ते परस्पर विरोधी हैं किन्तु उनका एक ही व्यक्ति से भिन्न–भिन्न दृष्टियों की अपेक्षा से सुंदर समन्वय पाया जाता है। इसी प्रकार पदार्थ के विषय में भी सापेक्षता की दृष्टि से अविरोधी तत्त्व प्राप्त होते हैं। विरोधी धर्मों के समन्वय के अभाव में अर्थात् एकांत के सद्भाव में सदा संघर्ष और विवाद होते रहते हैं, विवाद का अंत तो तभी संभव है जब स्याद्वाद से तत्त्वों की परस्पर सापेक्ष कथन करके अपने–अपने दृष्टिकोणों के साथ–साथ अन्यों के दृष्टिकोणों का भी समन्वय हो।

जब तक किसी सिद्धान्त का व्यवहार में उपयोग नहीं होता, तब तक उसकी ग्राह्यता स्वीकार नहीं की जा सकती। केवल विचारों और ग्रंथों में ही रह जाने वाले सिद्धान्त से संसार को कोई लाभ नहीं हो सकता। जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमय विचारों का चरित्र के रूप में उपयोग करते हैं तभी आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति होती है। केवल भोजन के विचार ही हमारी क्षुधा शान्त नहीं कर देते। त्रितयात्मक मुक्तिमार्ग मानने का यही आशय है कि यथार्थ विचारों को जीवन में उतारकर उनका व्यावहारिक उपयोग करो।

अधिकांश जनसमुदाय यह समझे हुए हैं कि स्याद्वाद केवल शास्त्रों की वस्तु है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि यह केवल ग्रंथों की ही चीज होती तब तो इसका जगद्–कल्याण से क्या संबंध था। शास्त्रों ने तो सिर्फ स्याद्वाद का स्वरूप और लक्षण बतलाया है। स्याद्वाद की व्याख्या करने वाले महर्षियों की यह आज्ञा है कि मानव जीवन को सफल और शांतिमय बनाने के लिए जीव के प्रत्येक विभाग में स्याद्वाद का उपयोग करने की आवश्यकता है। अगर हम दुःखी हैं तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि हम जीवन में स्याद्वाद का उपयोग नहीं करते। वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रीय अशान्ति का कारण केवल 'ही' के आग्रह के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता। इस आग्रह का न होना ही 'स्याद्वाद' कहलाता है। यदि

विश्वशांति का कोई एकमात्र कारण हो सकता है तो वह 'स्याद्वाद(ही है। इस समय संसार में जो सर्वत्र अशांति और आकुलता का साम्राज्य नजर आता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य सिर्फ अपनी ही आँखों से देखना जानता है। यदि मानव समाज स्याद्वाद की विशाल और उदार दृष्टि से देखना सीख जाये तो संसार में अधिकांश दु:खों की कमी हो जाये।

जिसके हृदय में स्वार्थ होता है वह स्याद्वाद को नहीं पहचानेगा। इसलिए स्याद्वादी बनने के लिए स्वार्थ को हटाकर हृदय को पवित्र बनाना चाहिए। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को लेकर बात करता है तब वह दूसरों को बिल्कुल भूल जाता है। यह भूल ही कलह का कारण है। स्याद्वाद-दृष्टि प्राप्त हो जाने के बाद ऐसी भूल नहीं हो सकती। लाखों स्याद्वादी भी एक जगह बिना किसी प्रकार की असुविधा के शांतिपूर्वक रह सकते हैं, किन्तु परस्पर लड़ने वाले दो एकान्ती भी एक जगह शांति से नहीं रह सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि शांति के उपासकों को चाहिए कि पहले वे स्याद्वाद की उपासना करें। पारस्परिक वैमनस्य और एकान्त का विचार छोड़कर निज और पर की उन्नति में लग जाना ही स्याद्वाद की व्यावहारिक उपयोगिता है। थोड़े से मतभेद के कारण हम जो एक-दूसरे की वैयक्तिक हानि करने को तैयार हो जाते हैं, यह स्याद्वाद सिद्धान्त के उपयोग न करने का ही फल है।

इस समय हमारा समाज अनैक्य के प्रज्वलित अग्निकुण्ड में जल रहा है। अपने को स्याद्वाद के लोकोत्तर सिद्धान्त के अनुयायी बतलाने वालों की यह दशा देखकर किसको दु:ख न होगा। स्याद्वाद के उपदेष्टा भगवान महावीर के उपासकों में भी स्याद्वाद का व्यावहारिक उपयोग न हो-यह लज्जा की बात है। स्वार्थ और मत-विभिन्नता से जो अशांति पैदा होती है, उसकी अव्यर्थ औषधि केवल स्याद्वाद है, यह हम पहले कह चुके हैं। यदि हम लोग अपने प्रत्येक अनैक्य का कांटा स्याद्वाद के द्वारा निकाल दिया करें तो हमें कभी स्वप्न में भी अनैक्य का विचार न हो। उदारदृष्टि से वैयक्तिक-सामाजिक और धार्मिक विवादों का बहुत जल्दी निबटारा हो सकता है। दु:ख है कि इस समय जैन समाज में स्याद्वाद का उपयोग केवल शास्त्रों में ही हो रहा है। वह दिन जैन समाज के सौभाग्य का दिन होगा जब वह पारस्परिक कलह और अशान्ति को मेटने के लिए स्याद्वाद का उपयोग करना सीखेगा। हम समस्त विरोधों का मंथन करने वाले अनेकांतवाद को बार-बार नमस्कार करते हैं।

2.5 जैनाचार में स्याद्वाद—

इसके विषय में अमृतचन्द्र सूरि ने हिंसा के विषय में स्याद्वाद का जो भावपूर्ण चित्रण किया है, वही पर्याप्त होगा। वे कहते हैं—

"कोई मनुष्य हिंसा नहीं करके अर्थात् प्राणियों को नहीं मार करके भी हिंसा के फल को पाता है, जबकि दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसा के फल को नहीं पाता। एक मनुष्य को अल्प हिंसा अधिक फल देती है जबकि दूसरे मनुष्य को अधिक हिंसा भी अल्प फल देती है। समान हिंसा करने वाले दो पुरुषों में से एक को वह हिंसा तीव्र फल देती है और दूसरे को वहीं हिंसा मंद फल देती है। किसी को हिंसा करने के पहले ही हिंसा का फल मिल जाता है और किसी को हिंसा करने के बाद हिंसा का फल मिलता है। किसी ने हिंसा करना प्रारंभ किया, लेकिन बाद में बंद कर दिया, तो भी हिंसा करने के भाव हो जाने से हिंसा का फल मिलता है। किसी समय हिंसा एक करता है, उसका फल अनेक भोगते हैं। किसी समय हिंसक अनेक होते हैं और फल एक को भोगना पड़ता है। किसी की हिंसा हिंसा का अल्प फल देती है, किसी की वही हिंसा अहिंसा का अधिक फल देती है। किसी की अहिंसा हिंसा का फल देती है, किसी की हिंसा अहिंसा के फल को देती है।

इस प्रकार विविध प्रकार के भंगों से दुस्तर हिंसा आदि के स्वरूप को समझाने के लिए स्याद्वाद तत्त्व के वेत्ता ही समर्थ होते हैं।

राजनैतिक दण्ड-व्यवस्था भी इसी आधार पर बनी हुई है जिससे हिंसा आदि के विषय में स्याद्वाद का स्वरूप अच्छी तरह समझ में आ सकता है।

जैनेतर दर्शनों में यद्यपि प्रत्यक्षरूप से स्याद्वाद को मान्यता प्रदान नहीं की गयी है, किन्तु उनमें अनेक स्थलों पर वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की स्वीकृति एवं उनका समन्वय दृष्टिगोचर होता है, जो स्याद्वाद के अनेकूल कहा जा सकता है। पंतजलि महर्षि के नित्यानित्य विचार, मीमांसा दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान कुमारिल भट्ट के पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप की स्वीकृति तथा महर्षि कणाद के वैशेषिक दर्शन में अन्योन्याभाव के निरूपण में वस्तु को सत्-असत् उभयरूप में स्वीकार किया जाना स्याद्वाद विचार धारा के अनुकूल है।

2.6 पाश्चात्य दार्शनिक और स्याद्वाद —

पाश्चात्य दार्शनिकों में विलियम जेम्स के Pragmatism सिद्धान्त की स्याद्वाद के साथ कई अंशों में तुलना की जा सकती थी।

ग्रीस में इलियाटिक (Eleatics) नामक एक सम्प्रदाय था। उसकी मान्यता थी कि जगत परिवर्तनहीन, नित्य है। उसका विरोधी सम्प्रदाया था हैरीक्लीटियन (Hereclitian) इसकी मान्यता थी कि जगत् सर्वथा परिवर्तनशील है। इन दोनों विरोधी मान्यताओं का समन्वय करते हुए एम्पीडोक्लीज (Emprdocles) एटोमिस्ट्रस (Antomister) और एनैक्सागोरस (Anaxagaras) इन दार्शनिकों ने पदार्थों का नित्यत्व स्वीकार करते हुए भी उसमें आपेक्षिक परिवर्तन माना है।

जर्मन तत्त्ववेत्ता हेगल की मान्यता है कि विरुद्ध धर्मात्मकता ही संसार का मूल है। हमें किसी वस्तु का वर्णन करते हुए उसकी वास्तविकता का तो वर्णन करना ही चाहिए, किन्तु उसके साथ उन विरुद्ध धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है, यह भी बताना चाहिए।

ब्रैडले का विश्वास है कि हर वस्तु दूसरी वस्तु की तुलना में आवश्यक भी है और तुच्छ भी है। हर विचार में सत्य है, चाहे वह कितना ही झूठ हो, हर सत्ता में वास्तविकता है, चाहे वह कितनी ही तुच्छ हो।

इस प्रकार और भी अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने पदार्थ में विरुद्ध धर्मात्मक को स्वीकार किया है, एक वस्तु के विभिन्न रूपों को सापेक्ष माना है और किसी सत्त्व को निरपेक्ष नहीं माना। इस प्रकार भारतीय और पश्चिमी दर्शनों में स्याद्वाद का मूलरूप स्वीकृत होने पर भी स्याद्वाद को स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धान्त का उच्चासन देने का गौरव केवल जैनदर्शन को ही है।

जैन परम्परा स्याद्वाद के रूप में जगत को अहिंसा का एक विधायक और रचनात्मक रूप दे सकी, यह मानव की सम्पूर्ण समस्याओं के समाधान में उसकी मूर्तिमती आकांक्षा का प्रतीक है। नि:संदेह अहिंसा इसके द्वारा केवल ऊँचा आदर्श मात्र नहीं रह गयी, बल्कि वह जीवन का एक उपयोगी अंग भी बन गयी है। आज इसके उपयोग की सर्वाधिक आवश्यकता है। व्यक्तिगत जीवन में भी और जातीय, साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय चरित्र में भी यही एकमात्र उपाय है, उससे व्यक्ति और समष्टि दोनों की समस्याओं का सौहार्दपूर्ण समाधान हो सकता है।

इस प्रकार स्याद्वाद वस्तु तत्त्व के निरूपण की तर्कसंगत और वैज्ञानिक प्रणाली है। यह न अनिश्चयवाद है और न संदेहवाद। यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद किसी निश्चित अपेक्षा से एक निश्चित धर्म का प्रतिपादन करता है उसमें संदेह के लिए रंचमात्र भी अवकाश नहीं।

2.7 अभ्यास प्रश्न —

प्रश्न 1-स्याद्वाद का आशय समझाइये ?

प्रश्न 2-स्याद्वाद व शायदवाद में अंतर बताइये ?

प्रश्न 3-पाश्चात्य दार्शनिकों की स्याद्वाद के बारे में क्या मान्यता है ?

पाठ-3—सप्तभंगी

3.1 सप्तभंगी का अर्थ—

अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद का विस्तृत रूप सप्तभंगी में दृष्टिगोचर होता है। अनेकांत सिद्धांत के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ परस्पर विरोधी अनेक धर्म युगलों का पिंड है। वे वस्तु में एक साथ रह तो सकते हैं परन्तु उन्हें युगपत् व्यक्त नहीं किया जा सकता है। इसके युगपत् प्रतिपादन के लिए भाषा में क्रमिकता ओर सापेक्षता चाहिए। स्याद्वाद पद्धति द्वारा प्रत्येक धर्म का वर्णन उसके प्रतिपक्षी धर्म की अपेक्षा से अस्ति (विधि) नास्ति (निषेध) और अवक्तव्य आदि रूप से सात प्रकार से किया जाता है, क्योंकि प्रत्येक धर्म युगल धर्म सप्तक लिए हुए हैं। वे सात धर्म सात वाक्यों द्वारा कहे जाते हैं। प्रत्येक धर्मों की सप्त प्रकारीय इस वर्णन शैली को सप्तभंगी कहते हैं। सप्तभंगी अर्थात् सात प्रकार के भंग, सात प्रकार के वाक्य विन्यास। सप्तभंगी का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि–

''**प्रश्नवशादेकस्मिन् वस्तुनि अविरोधेन विधि प्रतिषेध कल्पना सप्तभंगी।**'' अर्थात् प्रश्नानुसार वस्तुगत किसी भी एक धर्म में विधि और निषेध की कल्पना करना सप्तभंगी है। जब वस्तुगत किसी धर्म का विधि निषेधपूर्वक अविरुद्ध कथन करना होता है तब जैन दार्शनिक सप्तभंगी न्याय का अनुसरण करते हैं।

3.2 सप्तभंगियां निम्न है–

स्याद् अस्ति एव–किसी अपेक्षा से है ही।

स्याद् नास्ति एव–किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अस्ति एव स्याद् नास्ति एव–किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्यमेव–किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव अवक्तव्य एव–किसी अपेक्षा से है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् नास्ति एव स्याद् अवक्तव्य एव–किसी अपेक्षा से नहीं है ही और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति एव, स्याद् नास्ति एव, स्याद् अवक्तव्य एव–किसी अपेक्षा से है ही, किसी अपेक्षा से नहीं ही है और किसी अपेक्षा से अवक्तव्य ही है।

3.3 भंग सात ही क्यों ?—

उक्त सात भंगों में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ भंग ही मूल भंग हैं। शेष चार भंगों में तीसरा, पांचवां और छठा भंग द्विसंयोगी है तथा सातवां भंग त्रिसंयोगी है। गणित के नियमानुसार भी 'अस्ति', 'नास्ति' और अवक्तव्य इन तीन भंगों से चार संयुक्त भंग बनकर सप्तभंगी दृष्टि का उदय होता है। नमक, मिर्च और खटाई इन तीनों स्वादों के संयोग से चार और स्वाद उत्पन्न होंगे। नमक, मिर्च, खटाई, नमक–मिर्च, नमक—खटाई, मिर्च खटाई तथा नमक–मिर्च और खटाई। इस प्रकार सात स्वाद होंगे। इसलिए कहा गया है कि प्रत्येक धर्म युगल में सप्त ही भंग बनते हैं, हीनाधिक नहीं।

ये सातों भंग वक्ता के अभिप्रायानुसार बनते हैं। वक्ता की विवक्षा के अनुसार एक वस्तु है भी कही जा सकती है और नहीं भी। दोनों के योग से 'हाँ ना' एक मिश्रित वचन भंग भी हो सकता है। और इसी कारण उसे अवक्तव्य भी कहा जा सकता है। वह यह भी कह सकता है कि प्रस्तुत वस्तु है भी और फिर भी अवक्तव्य है, नहीं है फिर भी अवक्तव्य है अथवा है भी नहीं भी है फिर भी अवक्तव्य है। इन्हीं सात दृष्टियों के आधार पर सप्तभंगियां बनी हैं। सप्तभंगियों की सार्थकता को हम इस उदाहरण से समझ सकते हैं। किसी ने पूछा, "आप ज्ञानी हैं ?" इसके उत्तर में इस भाव से कि मैं कुछ न कुछ तो जानता ही हूं। मैं कह सकता हूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी हूं।" चूंकि मुझे आगम का ज्ञान है, किन्तु गणित, विज्ञानादि अन्य अनेक विषयों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है उस अपेक्षा से मैं कहूं कि "मैं स्याद अज्ञानी हूं" तो भी अनुचित

नहीं होगा। कितनी ही बातों का ज्ञान है और कितनी ही बातों का ज्ञान नहीं है। अतः मैं यदि कहूं कि "मैं स्याद् ज्ञानी भी हूं और नहीं भी" तो भी असंगत नहीं होगा। अगर इस दुविधा के कारण मैं इतना ही कहूं कि "मैं कह नहीं सकता कि मैं ज्ञानी हूं या नहीं" तो भी मेरा वचन असत्य नहीं होगा। इन्हीं आधारों पर सत्यता के साथ यह भी कह सकता हूं कि "मुझे कुछ ज्ञान है तो, फिर भी कह नहीं सकता कि आप जिस विषय को मुझसे जानना चाहते हैं उस विषय पर प्रकाश डाल सकता हूं या नहीं।" इसी बात को दूसरी तरह से कह सकता हूं कि "मैं ज्ञानी तो नहीं हूं फिर भी संभव है आपकी बात पर कुछ प्रकाश डाल सकूं" अथवा इस प्रकार भी कह सकता हूं कि 'मैं कुछ ज्ञानी भी हूं कुछ नहीं भी हूं।" अतः कह नहीं सकता कि प्रकृत विषय का मुझे ज्ञान है या नहीं। ये समस्त वचन प्रणालियां अपनी–अपनी सार्थकता रखती हैं तथा पृथक्–पृथक् रूप में वस्तु–स्थिति के एक अंश को ही प्रकट करती हैं, उसके पूर्ण स्वरूप को नहीं। स्याद्वाद का एक शास्त्रीय उदाहरण है घट, जिसका स्वरूप नियमन जैन दार्शनिक सप्तभंगी के माध्यम से इस प्रकार करते हैं–

स्याद् अस्ति एव घट — कथंचिद् घट है ही।

स्याद् नास्ति एव घट — कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अस्ति नास्ति एव घट — कथंचिद् घट है ही, कथंचिद् घट नहीं ही है।

स्याद् अवक्तव्य एव घट — कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव घट — कथंचिद् घट है ही और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् नास्ति अवक्तव्य एवं घट — कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

स्याद् अस्ति नास्ति अवक्तव्य एव घट — कथंचिद् घट है ही, कथंचिद् घट नहीं ही है और कथंचिद् घट अवक्तव्य ही है।

3.4 स्याद् अस्ति एव घट–

कथंचिद् घट है ही। इस वाक्य में 'घट' विशेष्य और अस्ति विशेषण है। एवकार विशेषण से युक्त होकर घट के अस्तित्व धर्म का अवधारण करता है। यदि इस वाक्य में 'स्यात्' का प्रयोग नहीं होता तो 'अस्तित्व एकांतवाद' का प्रसंग आ जाता, जो इष्ट नहीं है, क्योंकि घट में केवल अस्तित्व धर्म ही नहीं है, इसके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उसमें हैं। 'स्यात्' शब्द का प्रयोग इस आपत्ति को निरस्त कर देता है। 'अवकार' के द्वारा सीमित अर्थ को वह व्यापक बना देता है। विवक्षित धर्म का असंदिग्ध प्रतिपादन और अविवक्षित अनेक धर्मों का संग्रहण–इन दोनों की निष्पत्ति के लिए 'स्यात्कार' और 'एवकार' का समन्वित प्रयोग किया जाता है।

सप्तभंगी के प्रथम भंग में विधि की और दूसरे में निषेध की कल्पना है। प्रथम भंग में विधि प्रधान है और दूसरे में निषेध। वस्तु स्वरूप शून्य नहीं है इसलिए विधि की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है और वह सर्वात्मक नहीं है। अतः निषेध की प्रधानता से उसका प्रतिपादन किया जाता है।

जैसे विधि वस्तु का धर्म है वैसे ही निषेध भी वस्तु का धर्म हैं स्व–द्रव्य की अपेक्षा से घट का अस्तित्व है। यह विधि है पर द्रव्य की अपेक्षा से घट का नास्तित्व है। यह निषेध है। इसका अर्थ यह हुआ कि निषेध आपेक्षिक पर्याय है, दूसरे के निमत्त से होने वाली पर्याय है। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। निषेध की शक्ति द्रव्य में निहित है। द्रव्य में यदि अस्तित्व धर्म हो और नास्तित्व धर्म न हो तो वह अपने द्रव्यत्व को बनाए नहीं रख सकता। निषेध 'पर' की अपेक्षा से व्यवहृत होता है इसलिए उसे आपेक्षिक या पर निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व या पर निमित्तक पर्याय कहते हैं। वह वस्तु के सुरक्षा कवच का काम करता है, एक के अस्तित्व में दूसरे को मिश्रित नहीं होने देता। 'स्व द्रव्य की अपेक्षा से घट है' और 'पर द्रव्य की अपेक्षा से घट नहीं है' ये दोनों विकल्प इस सत्यता को प्रकट करते हैं कि घट सापेक्ष है। वह सापेक्ष है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जिस क्षण में उसका

अस्तित्व है, उस क्षण में उसका नास्तित्व नहीं है। अस्तित्व और नास्तित्व (विधि और निषेध) दोनों युगपत हैं, किन्तु एक क्षण में एक साथ दोनों का प्रतिपादन कर सकें, ऐसा कोई शब्द नहीं है। इसलिए युगपत् दोनों धर्मों का बोध कराने के लिए अवक्तव्य भंग का प्रयोग होता है। इसका तात्पर्य है कि दोनों धर्म एक साथ हैं, किन्तु उनका कथन नहीं किया जा सकता। उक्त विवेचन का सार यह है कि स्याद्वाद के अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य आदि भंग घट वस्तु के द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव पर निर्भर करते हैं। घट जिस द्रव्य से निर्मित है जिस क्षेत्र, काल और भाव में हैं उस द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से उसका अस्तित्व है। किन्तु अन्य द्रव्य, अन्य क्षेत्र, अन्य काल और अन्य भाव की अपेक्षा में उसका नास्तित्व है। इस प्रकार घट में अस्तित्व–नास्तित्व दोनों हैं और इन युगल धर्मों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अतः वह (घट) अवक्तव्य भी है। अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य–ये तीनों मूल भंग हैं। शेष चार इन्हीं भंगों से निष्पन्न होते हैं। अतः उनका विवेचन अनावश्यक है। सप्तभंगी से घटादि वस्तु समग्र भावाभावात्मक, सामान्य विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक और वाच्यावाच्यात्मक धर्मों का युगपत् कथन संभव है।

3.5 अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी में संबंध—

यहाँ पर जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है, कि अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी इन तीनों में क्या अंतर है। इसका उत्तर संक्षेप में यह है कि अनेकांत वस्तु है/वाच्य है, स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है/वाचक है और सप्तभंगी स्याद्वाद का साधन है। स्याद्वाद जब अनेकांत रूप वस्तु का कथन करता है तो सप्तभंगी के माध्यम से ही करता है। इसका आश्रय लिये बिना वह उसका निरूपण नहीं कर सकता। इसे और स्पष्टतया समझें कि स्याद्वाद स्याद्वादी वक्ता का वचन है। अनेकांत उसके द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है और सप्तभंगी उसके प्रतिपादन की शैली, पद्धति या प्रक्रिया है। अतः सप्तभंगी में सात भंगों का समन्वय है इसलिए उसे सप्तभंगी कहा जाता है।

इस प्रकार यह स्याद्वाद का संक्षिप्त रूप है। यद्यपि यह विषय अत्यन्त व्यापक है और विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, फिर भी यहां उसका संक्षिप्त स्वरूप दर्शाना ही इष्ट है। इसके विस्तृत विवेचन के लिए जैन न्याय ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिए।

3.6 अभ्यास प्रश्न—

प्रश्न 1–सप्तभंगी का अर्थ बताइये ?

प्रश्न 2–भंग सात ही क्यों होते हैं ?

प्रश्न 3–अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी में क्या संबंध है ?

जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त

-संदर्भ ग्रंथ-

1. **तत्त्वार्थसूत्र** –आचार्य श्री उमास्वामी
2. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** –श्री नेमिचन्द्राचार्य 'सिद्धान्तचक्रवर्ती'
3. **जैन तत्त्व विद्या** –मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज
4. **जैनधर्म व दर्शन** –मुनि श्री प्रमाणसागर जी महाराज
5. **तत्त्व बोध** –मुनि श्री समतासागर जी महाराज
6. **दिगम्बर मुनि** –गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
7. **प्रवचन निर्देशिका** –गणिनी आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी
8. **मूलाचार में प्रतिपादित दि. जैन साध्वाचार** –डॉ. रेखा जैन
9. **www.encyclopediaofjainism.com**

प्रश्नावली (Questions Bank)

प्रश्न 1 –मोक्ष का मार्ग क्या है ?
प्रश्न 2 –सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताइये ?
प्रश्न 3 –पंचलब्धियों के नाम बताइये ?
प्रश्न 4 –उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के कौन–कौन से भेद है ?
प्रश्न 5 –सच्चे देव के क्या लक्षण हैं ?
प्रश्न 6 –सच्चा शास्त्र किसे कहते हैं ?
प्रश्न 7 –आचार्य समन्तभद्र के अनुसार सच्चे गुरु का स्वरूप बताइये ?
प्रश्न 8 –सराग सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं ?
प्रश्न 9 –सराग सम्यग्दर्शन के मुख्य लक्षण कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 10 –सम्यग्दर्शन के प्रमुख तीन भेद कौन से हैं ?
प्रश्न 11 –सम्यग्दर्शन के दस भेदों के नाम बताइये ?
प्रश्न 12 –सम्यग्दर्शन के आठ अंगों के नाम बताइये ?
प्रश्न 13 –आठ मद कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 14 –सम्यग्दर्शन के आठ गुणों का उल्लेख करिये ?
प्रश्न 15 –सम्यग्दर्शन के अतिचार कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 16 –सम्यग्ज्ञान किसे कहते हैं ?
प्रश्न 17 –सम्यग्ज्ञान के आठ अंग कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 18 –सम्यग्ज्ञान के पाँच भेदों का विवेचन करिये ?
प्रश्न 19 –अवग्रह ज्ञान किसे कहते हैं ?
प्रश्न 20 –अवधिज्ञान कितने प्रकार का होता है ?
प्रश्न 21 –अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में क्या अन्तर है ?
प्रश्न 22 –केवलज्ञानी आत्मा को किस नाम से जानते हैं ?
प्रश्न 23 –सम्यग्चारित्र का स्वरूप बताइये ?
प्रश्न 24 –पाँच महाव्रतों का विवेचन करिये ?
प्रश्न 25 –मुनि (साधु) के मूलगुण कितने होते हैं ?
प्रश्न 26 –श्रावक के बारह व्रत कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 27 –सम्यग्दृष्टि जीव कहाँ–कहाँ जन्म लेते हैं ?
प्रश्न 28 –जैन दर्शन में कर्म का स्वरूप क्या है ?
प्रश्न 29 –कर्मबंध कब से प्रारंभ हुआ ?
प्रश्न 30 –कर्मबंध की प्रक्रिया क्या है ?
प्रश्न 31 –कर्मबंध का अन्त कब होता है ?
प्रश्न 32 –अनादिसांत का क्या अर्थ है ?
प्रश्न 33 –कर्म के मूल भेद कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 34 –ज्ञानावरणीय कर्म के कौन–कौन से भेद हैं ?

प्रश्न 35 –नामकर्म किसे कहते हैं ? इसके मुख्य और उपभेद कितने होते हैं ?
प्रश्न 36 –अन्तराय कर्म से क्या आशय है ? इसके कौन–कौन से भेद हैं ?
प्रश्न 37 –कर्म की दस विविध अवस्थाओं के नाम बताइये ?
प्रश्न 38 –उत्कर्षण और अपकर्षण से क्या आशय है ?
प्रश्न 39 –संक्रमण किसे कहते हैं ?
प्रश्न 40 –आयु कर्म की उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति कितनी है ?
प्रश्न 41 –जैन दर्शन के अनुसार कर्म फल की क्या व्यवस्था है ?
प्रश्न 42 –बौद्ध दर्शन में कर्मवाद की क्या मान्यता है ?
प्रश्न 43 –श्रीमद् भगवद्गीता के अनुसार कर्म की फलदान प्रक्रिया का वर्णन करिए ?
प्रश्न 44 –संवर से क्या आशय है ?
प्रश्न 45 –संवर के मूल साधन कितने और कौन–कौन से हैं ?
प्रश्न 46 –संवर के कुल बासठ भेद किस प्रकार से हैं ?
प्रश्न 47 –दस धर्मों के नाम बताइये ?
प्रश्न 48 –निर्जरा का स्वरूप बताइये ?
प्रश्न 49 –कार्य कारण सिद्धान्त को समझाइये ?
प्रश्न 50 –उपादान कारण से क्या आशय है ?
प्रश्न 51 –निमित्त कारण का विवेचन कीजिए ?
प्रश्न 52 –"अरिहंत भगवान पुण्य के फल हैं" इस कथन का विवेचन करिये ?
प्रश्न 53 –संसारस्थितिछेद के कौन–कौन से कारण हैं ?
प्रश्न 54 –क्या पुण्यास्त्रव भी मोक्ष का कारण है ?
प्रश्न 55 –क्या महामंत्र भी कर्मनिर्जरा में निमित्त है ?
प्रश्न 56 –गौतम स्वामी ने अंतिम तीर्थंकर को नमस्कार क्यों किया ?
प्रश्न 57 –बिना पुरुषार्थ किये कार्यसिद्धि में प्रधान निमित्त क्या है ?
प्रश्न 58 –निमित्त की बलवत्ता का संक्षेप में विवेचन करिये ?
प्रश्न 59 –भाग्य व पुरुषार्थ से क्या आशय है ?
प्रश्न 60 –संसार में दृष्टिगत विषमताओं का क्या कारण है ?
प्रश्न 61 –भाग्य का निर्माण किस प्रकार होता है ?
प्रश्न 62 –भाग्य और पुरुषार्थ को उदाहरण द्वारा समझाइये ?
प्रश्न 63 –"पुरुषार्थ ही भाग्य का निर्माता है" इस कथन की विशद विवेचन करिये ?
प्रश्न 64 –अच्छे व बुरे पुरुषार्थ को उदाहरण सहित समझाइए ?
प्रश्न 65 –नय का लक्षण बताइये ?
प्रश्न 66 –नय के प्रमुख दो भेदों का वर्णन करिये ?
प्रश्न 67 –द्रव्यार्थिक नय से क्या आशय है ? इसके प्रमुख तीन भेद कौन से हैं ?
प्रश्न 68 –पर्यायर्थिक नय से क्या आशय है ? इसके प्रमुख चार भेद कौन से हैं ?
प्रश्न 69 –निश्चय नय और व्यवहारनय का स्वरूप बताइये ?

प्रश्न 70 –संग्रह नय की विवेचन करिये ?

प्रश्न 71 –शब्दनय किसे कहते हैं ?

प्रश्न 72 –उपनय किसे कहते हैं ? इसके प्रमुख तीन भेद कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 73 –अध्यात्म पद्धति से नयों के मूल भेद कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 74 –जीवन में नयों के प्रयोग की आवश्यकता क्या है ?

प्रश्न 75 –शब्द नय कौन–कौन से हैं ?

प्रश्न 76 –अर्थ नय कितने प्रकार के हैं ?

प्रश्न 77 –व्यवहार नय के कितने भेद हैं ?

प्रश्न 78 –कौन सा नय कब और किसके द्वारा आश्रयणीय है ?

प्रश्न 79 –क्या निश्चय और व्यवहार में साध्य साधन भाव है ?

प्रश्न 80 –समयसार क्या है ?

प्रश्न 81 –नयाभास से क्या आशय है ?

प्रश्न 82 –सुनय और दुर्नय में अन्तर बताइये ?

प्रश्न 83 –गुरु कैसे हों ?

प्रश्न 84 –शिष्य कैसे हों ?

प्रश्न 85 –शास्त्र अध्यापन का क्रम बताइये ?

प्रश्न 86 –श्रावक का कर्त्तव्य क्या है ?

प्रश्न 87 –प्रवचनकर्त्ता के आवश्यक गुणों का उल्लेख कीजिए ?

प्रश्न 88 –अनेकांत से क्या आशय है ?

प्रश्न 89 –अनेकांत की आवश्यकता क्यों है ?

प्रश्न 90 –"अनेकांत समन्वय का श्रेष्ठ साधन है" इस कथन की विवेचना करिये ?

प्रश्न 91 –अन्य दर्शनों में अनेकांत शब्द का किस प्रकार प्रयोग हुआ है ?

प्रश्न 92 –स्याद्वाद का आशय समझाइये ?

प्रश्न 93 –स्याद्वाद व शायदवाद में अंतर बताइये ?

प्रश्न 94 –पाश्चात्य दार्शनिकों की स्याद्वाद के बारे में क्या मान्यता है ?

प्रश्न 95 –सप्तभंगी का अर्थ बताइये ?

प्रश्न 96 –भंग सात ही क्यों होते हैं ?

प्रश्न 97 –अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी में क्या संबंध है ?

नोट्स